प्रकाशक—

श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय

जैन प्रेस, कोटा [राजस्थान]

मूल्यं १॥) सार्धरुप्यकम्

वीर सं० २४७५] [वि० सं० २००५

श्रीसूरीश्वर-शास्त्र सागर-मणिः वादीभपञ्चानन,

त श्रीजैनविधौ गणे दिनमणिं ध्यायामि हृत्वान्तहम् ।

हिन्द्यामागमसंप्रसार-मणिना प्रोद्धारि येन श्रुत,

भव्यानामुपदेशदानमणये तस्मै नमः सर्वदा ।

यस्मात्प्रादुरभून्मणेः शुभविभा श्रीगौतमाद्धागिव,

वागीशानिव वादिनो जितवती वादेषु सवादिन. ।

शान्त्यापूर्णनिधेः मणेः समुदयो तत्त्वानि सम्यक्दिशन्,

प्रायन्छन सुधियं परां शुभमणौ लीनं मनो नोऽवतान् ।

चारुचरणचंचरीक—

विनय.

दो शब्द

विरह को शृंगार-शैल का उच्चतम शृंग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यही कारण है कि शृंगारी कवि विरह-काव्य में जितने सफल हुये हैं उतने अन्यत्र नहीं। हमारे साहित्य में तो विरह ने एक ऐसा अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है कि लोक गीतों से लेकर खण्डकाव्यों तथा महाकाव्यों तक उस के चित्रण में जितनी पूर्णता एवं प्रवीणता दिखलाई पड़ती है उतनी शायद ही किसी दूसरे काव्य-विषय में मिले।

यों तो अनेक विरह-काव्य लिखे गये, परन्तु कालिदास के मेघदूत ने जो ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त की वह अन्य किसी को न मिली। आज इस ग्रन्थ पर ४० से अधिक टीकायें मिलती हैं, अनेक कवियों ने इसके अनुकरण पर स्वतंत्र काव्य रचे; बहुतों ने समस्यापूर्ति के ढंग पर इस का अनुकरण किया—ये सब बातें मेघदूत की सफलता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं।

कवि-कुल-भूषण कालिदास की इस अमर कृति के आधार पर ही प्रस्तुत काव्य **नेमिदूत** की रचना हुई है। मेघदूत के प्रत्येक पद के अन्तिम चरण को लेकर कवि ने समस्या-पूर्ति करते हुये १२५ पदों में श्री नेमिनाथ जी के चरित्र की एक घटना को गाया है। विवाह-काल में ही वैराग्य हो जाने से अपनी पत्नी राजीमती को परित्याग कर भगवान पर्वत शिखर पर जाकर योगासक्त हो जाते हैं उधर राजीमती विरहाकुल होकर व्यथित होती है और अन्त में अपने स्वामी की शरण में आकर अपनी विरह-कथा प्रस्तुत करती है। यही इस काव्य का विषय है। समस्या-पूर्ति के बन्धन में रहते हुये भी कवि ने जिस उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि की है वह अत्यंत प्रशंसनीय है।

नेमिदूत के लेखक कोई विक्रम नामक कवि हुये हैं। ये कहां के रहने वाले थे, इनका जन्म कब हुआ और इन्होंने इस काव्य की रचना कब और कहां की— इनका जवाब ऐसे ही और प्रश्नों का उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। इसी काव्य के १२६ वें श्लोक के 'सांगणस्यांगजन्मा'

को लेकर इनके पिता का नाम 'सांगण' बताया जाता है। मूल की कितनी ही प्रतियों में सागण के स्थान पर 'झांझण' मिलता है, किन्तु काव्य की पुरातन प्रतियों एवं टीका के आधार पर सांगण ही ठीक प्रतीत होता है। अस्तु।

इस कवि के सम्बन्ध मे विद्वद् समाज में ३ मत स्थिर किये गये हैं:-

१-जैन साहित्य महारथी मोहनलाल द. देशाईजी के "जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास" में एव छोटालालजी द्वारा लिखित "जैन मेघदूत की प्रस्तावना" में इस कवि को सागण सुत मानकर गुर्जर महाकवि ऋषभदास का भ्राता माना है।

२-पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य का इतिहास" में खंभात शिलालेख को-देखकर यशकीर्ति-सहस्रकीर्ति की कीर्तिशाखा और हुम्बड़ ज्ञाति को देखकर इस ग्रथकर्ता को १४ वीं शती का दिगम्बर कल्पित किया है।

३-मुनि-विद्याविजयजी ने नेमिदूत पद्यानुवाद की प्रस्तावना में उसे १२ वीं शदी के कर्णावती के मंत्री सांगण का पुत्र कहा है।

किन्तु मेरे प्राप्त साधनों द्वारा ये तीनों मत ठीक नहीं प्रतीत होते हैं। अतः विद्वानों के विचारार्थ मै अपना मत संक्षेप में यहा देता हूँ। अपने पूज्य गुरुदेव श्रीजिनमणिसागरसूरिजी म० के साथ भ्रमण करते हुए मुझे मूल काव्य की २ प्रतिया प्राप्त हुई, जिनमें से कि एक तो १५१६ की लिखित है और दूसरी सोलहवीं सदी की। और एक प्रति अजमेर में ढड्ढाजी के सग्रह मे देखने को प्राप्त हुई। यह १४७२ की लिखी हुई है। जब मूल की ३ तीनों प्रतिया १५ और १६ वीं सदी लिखित प्राप्त है, तब काव्यकर्ता १७ वीं सदी में कवि ऋषभदास का भाई कैसे हो सकता है?

दूसरे, खरतरगच्छालंकार युगप्रधानचार्य गुर्वावलि (जो कि १४वीं शती उतरार्द्ध की रचना है) मे श्रीजिनपतिसूरिजी के शिष्य श्रीजिनेश्वरसूरिजी ने सं० १२८५ से १३३० तक लगभग १२- १५शिष्य कीर्ति नंदी के दीक्षित किए थे। जिनमें यशकीर्ति का उल्लेख प्राप्त है। इसके

अतिरिक्त एक बात और है कि इसी गुर्वावली में स० १३२६ श्रीजिनेश्वरसूरिजी की अध्यक्षता में जो यात्रार्थ संघ निकला था वह क्रमशः यात्रा करता हुआ खंभात पहुंचा था। वहां मंदिरजी में पूजा—माला की बोलियें हुई थी, उनमें सागरण सुतने द्र० ८ में चमर धारक पद धारण किया था। *

तीसरे, जिस हुम्बड ज्ञाति को देखकर कवि को दिगंबर बतलाया गया है वह हुम्बड ज्ञाति श्वेताम्बरों में भी होती है। और आज भी मालवदेशस्थ प्रतापगढ में लगभग ७५ घर हुम्बड जाति के हैं, वे सब श्वेताम्बर ही हैं। और पूर्व भी १२वीं शती के युगप्रधान दादा पदधारक श्रीजिनदत्तसूरिजी म० भी श्वेताम्बर हुम्बड ज्ञाति के ही थे।

चौथे, जो प्रथम प्रति सं० १४७? की लिखी है, केवल उसी में मन्त्री विक्रम ऐसा शब्द सूचित किया है, जोकि मेरे विचार में मणिधारी जिनचन्द्रसूरि प्रतिबोधित मन्त्रिदलीय ज्ञाति होने चाहिए, क्योंकि मंत्रिदलीय ऋद्धिमन्त श्रेष्ठियों का 'मंत्रि' विशेषण रहा करता था। अतएव इनका भी मंत्रिदलीय होने के कारण मन्त्रि विशेषण रहा होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि विक्रम न तो ऋषभदास के भाई थे, और न हुम्बड ज्ञातीय दिगम्बर ही थे, एवं न उनके गुरु ही दिगम्बर थे, किन्तु खंभात के रहने वाले १४ वीं शती के श्वेताम्बर एवं खरतरगच्छाधीश श्रीजिनेश्वरसूरि के भक्त श्रावक थे। अस्तु।

मुनि श्री विद्याविजयजी म. ने जिस आधार पर कवि को १२ वीं नवी या दशवीं शती का मन्त्री लिखा है, इसका समाधान करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उन्होंने अपने मत को स्वयं ही बदल दिया था।

इस कवि द्वारा रचित अन्य कोई भी साहित्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। किन्तु यही एक काव्य उनकी कीर्तिध्वज रक्षित करने के लिए पर्याप्त है।

इस काव्य पर उ. गुणविनय गणिजी की वृत्ति के अतिरिक्त कोई भी वृत्ति प्राप्त नहीं है। केवल गणिजी ने इस काव्य की १४ श्लोक की टीका में

* श्रीस्तम्भनक महातीर्थे द्र० ८ चमरधारपदं सागरणपुत्रेण।

'इत्यवचूर्णी' ऐसा शब्द सूचित किया है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय एक अवचूरिण अवश्य उपलब्ध थी। वह किन्हीं भण्डारों में दीमक का ग्रास बन गई होगी या नष्ट हो गई होगी।

टीकाकार गुणविनय का परिचय श्रीअगरचन्दजी नाहटा लिखित प्रस्तावना में दिया जा रहा है। इसलिए मैं पुन कुछ भी नहीं कहता हूँ।

नेमिदूत पद्यानुवाद के कर्ता श्रीमन्महारावजी **श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरजन'** मेवाड़ के अंतर्गत चम्बल नदी के तट पर स्थित **भेसरोड़गढ़** के ठाकुर हैं। एवं इतिहास प्रसिद्ध **चूड़ावत** वश के हैं। हिन्दी साहित्य के अच्छे सुयश ख्याता कवि हैं। आप ने खड़ी बोली में प्रसिद्ध तीन काव्य रचे हैं। जिनके नाम—

१-महिपासुरवध, २-शनिश्चर कथा, ३-नेमिदूत पद्यानुवाद।

आप दयालु सहृदय, प्रेमी, और मत-मतान्तरों के सम्बन्ध में समभाव को धारण करने वाले हैं। आपने मुझे पद्यानुवाद इसी-ग्रन्थ के साथ प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की, इसलिए मैं आपका विशेष रूप से आभारी हूँ। और हृदय से चाहता हूँ कि और भी वे खड़ी बोली में काव्य रचना करके साहित्य की उन्नति करें।

प्रति परिचय—

नेमिदूत- मूल और टीका के सशोधन में मैंने निम्नलिखित प्रतियों से सहायता ली। उनका वर्णन निम्नप्रकार है-

१– यह मूल काव्य की प्रति **अजमेरस्थ ढढ्ढाजी**के सग्रह की है। एव उसकी प्रतिलिपि (मेरे द्वारा लिखित) मेरे सग्रह में है। उस प्रति के ६ पत्र हैं, उसकी प्रशस्ति इस प्रकार है-

"इति मन्त्रिविक्रमविरचितं मेघदूताभिधानं काव्यं समाप्तं। यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम॥ स० १४७२ वर्षे श्रावण शुक्ल ६॥ श्री॥"

संवत् १६५३ आश्विनमासे शुक्ले पक्षे तिथौ नवम्या गुरुवासरे प्रथमयामे लिखितं धनरूपसागरेण । श्रीजिनप्रसादात् । शुभम् ॥ श्रीपालिमध्ये ॥

टीका की दोनों प्रतियों में नं. ४ वाली स्वय लिखित होने के कारण स्वय ही शुद्ध है । इसीलिए इसी पर से संशोधन किया गया है, और कहीं-कहीं पर नं.५ से सहायता भी ली गई है । न.५ की टीका वाली प्रति न तो अत्यन्त शुद्ध ही लिखित है, और न अत्यन्त अशुद्ध ही है । मध्यम है ।

मूल की तीनों प्रतियों एवं टीका की दोनों प्रतियों के पाठान्तर नोट किए थे, किन्तु प्रेस में सामग्री के अभाव के कारण प्रस्तुत न कर सका ।

आभार प्रदर्शन—

इस काव्य के सशोधन कार्य्य में मेरे गुरुभ्राता मुनि- **गुणचन्द्रजी** ने और वेदान्ताचार्य पं **गोवर्धनजी शर्मा** शास्त्री ने सहयोग प्रदान किया । श्रीयुत **अगरचन्द्रजी** नाहटा ने मेरे कथन को स्वीकार कर टीका की दोनों प्रतिया भेजी एवं प्रस्तावना लिखी । डा. श्री **फतहसिंहजी** एम ए , बी. टी , डी लिट, प्रोफेसर कोटा वालों ने मेरे आग्रह को स्वीकार कर प्रस्तावना लिखकर भेजी और गणिवर्य्य श्रीमन्बुद्धिमुनिजी म. ने शुद्धि पत्र लिखकर भेजा । एतदर्थ मैं इन विद्वानों का अत्यन्त ही आभारी हूँ और आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी मुझे साहित्य के कार्य में सहयोगप्रदान करते रहेंगे ।

प्रूफ सशोधन यथाशक्ति सावधानी से किया गया है, फिर भी दृष्टिदोष से एवं प्रेस की असावधानी से जो अशुद्धिया रह गई हैं, उन को विद्वज्जन सुधार कर पढने की कृपा करें । इत्यलम्-

मं. शु ५ चन्द्रे २००४ संपादक

केकड़ी

नेमिदूत का काव्यत्व

नेमिदूत की वस्तु जैनियों के बाईसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ के जीवन से ली गयी है। द्वारिका के यदुवंशी राजा समुद्र-विजय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भाई थे। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र श्रीनेमिनाथजी बचपन से ही विषयपराङ्मुख थे। जब श्रीकृष्ण ने आपका विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती से करना निश्चित कर लिया, तो आपने उनके आदेश को न टाला और बरात में जाना स्वीकार कर लिया। परन्तु, जब बरात पहुंचती है और श्री नेमिनाथजी देखते हैं कि एक बाड़े के भीतर बहुत से निरीह पशु बरातियों के भोजनार्थ एकत्र किये गये हैं, तो उनका करुणार्द्र हृदय द्रवित हो जाता है और वे राग-रञ्जित भोगों को सदा के लिये छोड़कर गिरिनार पर्वत पर योगाभ्यास और तपश्चर्या में लग जाते हैं। इस पवित्र प्रयत्न से उन्हें कोई न डिगा सका—न बन्धु बांधवों का मोह, न त्रैलोक्यसुंदरी राजीमती का रूप और न पिता का आदेश; क्योंकि निरीह प्राणियों की वधकालीन कातर वाणी की कल्पनामात्र से जो करुणा उनके हृदय में उमड़ी, उसके सामने ये सब बन्धन तुच्छ थे।

श्रीनेमिनाथ के परित्याग करने पर भी राजीमती भला उन्हें कब छोड़ने वाली थी; वह तो उनको अपने मनमंदिर में पति रूप में स्थापित कर चुकी थी। अतः उस विरह-विधुरा ने अपने देव को पुनः प्राप्त करने के कई प्रयत्न किये—वृद्ध ब्राह्मण को उनका कुशल समाचार लेने श्रीनेमि की तपोभूमि को भेजा (१०७) और

फिर पिता की आज्ञा लेकर स्वयं वहां एक सखी के साथ पहुँच कर अनुनय-विनय करती हुई अपने विरह-दग्ध हृदय की भावनाओं को एक प्रलाप-रूप में व्यक्त करने लगी; (२-७८) उसके इस प्रयत्न को असफल देखकर सखी ने राजमती के पति-प्रेम, विरह-व्यथा, स्वप्न-प्रलाप आदि का वर्णन (८८-१२३) करते हुये श्री नेमि से कहा:—

राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युताविप्रयोगः ।

"जैसे वर्षा ऋतु में नवघन से चपला का वियोग नहीं होता, उसी प्रकार राजमती से तुम्हारा अब क्षण भर के लिये भी पुनः वियोग न हो ।"

सखी सहित राजमती के इन प्रयत्नों का वर्णन ही प्रस्तुत काव्य का विषय है ।

नामकरण

इस काव्य के नाम को देखकर ऐसा लगता है कि इसमें श्री नेमि ने दूत का काम किया होगा अथवा उन्होंने कोई दूत बनाया होगा; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । श्री प्रेमीजी लिखते हैं— "यह मेघदूत के ढंग का काव्य है और मेघदूत के ही चरण लेकर इसकी रचना की गई है । शायद इसीलिये इसे नेमिदूत नाम मिल गया है न इसमें नेमिनाथ दूत बनाये गये हैं और न उनके लिये कोई दूसरा दूत बनाया गया है ।" यद्यपि यह बात सही है, फिर भी यह बात विचारणीय है कि 'मेघदूत' में जो दूत-कर्म मेघ-द्वारा संपादित हुआ है, लगभग वही अथवा वैसा ही कर्म यहां राजमती तथा उसकी सखी के द्वारा कराया गया है । परन्तु, इन दोनों के कथनों में यदि दौत्य देखा जाय, तो यही कहना पड़ेगा

कि यह सारा ही राजमती के लिये है और इसीलिये प्रेमीजी के शब्दों में, "इस काव्य का 'राजमती-विप्रलम्भ' या 'राजमती-विलाप अथवा ऐसा ही और कोई नाम अन्वर्थक होता; परन्तु अन्तिम श्लोकों से इसमें नेमिनाथ को प्रधानता प्राप्त हो गई है"

मेरी समझ में नेमिनाथ की इस प्रधानता में काव्य के नाम-करण का रहस्य छिपा है। उन्होंने उस पर्वत पर स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त किया और राजमती से सांसारिक भोगों को छुड़वाकर उसे शिवपुरी में 'अभिमतसुख शाश्वत आनन्द' का भोग करवाया:—

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन् ,
नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोऽधिगम्य ।
तामानन्द शिवपुरि परित्यज्य संसारभाजां ,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१२५॥

इससे स्पष्ट है कि राजमती और उसकी सखी के कथनों का परिणाम यह हुआ कि श्रीनेमि ने राजमती को अपने पथ—आनन्दोन्मुख निवृत्ति—मार्ग—का पथिक बनाया। और राजमती आई भी किस लिये थी? सचमुच उसे ऐहिक सुख की चाह न थी, यदि ऐसा होता तब तो वह उस वैभव को छोड़कर अपने शरीर को दुःखसागर में न डुबाती जैसा कि उसकी सखी के वचनों से प्रकट है। वह जानती है कि जन्मजन्मान्तर के कर्म किस प्रकार मन्थन में डालते हैं: अतः वह चाहती है कि उसे श्रीनेमि के संयोग से 'चिर-सुख' शाश्वत आनन्द मिले:—

दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं ,
संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वपुर्मे चिराय ।
यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजां ,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥११७॥

अतः स्पष्ट है कि उक्त दौत्य का जो परिणाम था, वही उद्देश्य भी था; राजमती के कथन में जो सांसारिक सुखों की ओर श्री नेमि को ले जाने का प्रयत्न है, वह केवल विरहिणी का प्रलाप है; वास्तविक उद्देश्य तो सचेत सखी ही कह सकती थी।

इस विवेचन को ध्यान में रख कर, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त दौत्य कर्म मे श्रीनेमि के ही उद्देश्य की पूर्ति थी और उन्होंने राजमती को पत्नी रूप में ग्रहण न करने पर भी आनन्द-पथ की संगिनी के रूप में ग्रहण करना निश्चित कर लिया था, जिसके लिये ही 'अदृष्ट' शक्तियां राजमती को तैयार करके लाई थीं—नेमिनाथ के दूतों ने इस प्रकार अदृश्य रूप में उनका संदेश राजमता तक पहुँचाया था। सचमुच यह विचित्र दूतकर्म था, पर था अवश्य। अतः श्री प्रेमी जी का यह कथन ठीक है कि इसका "नेमिचरित' नाम बहुत सोच समझ कर रक्खा गया है।"

नेमिदूत और मेघदूत

जैसा कि नेमिदूत के अन्तिम पद से प्रकट है, नेमिदूत की रचना समस्या-पूर्ति के ढग पर हुई, जिसमे मेघदूत के प्रत्येक पद के अन्तिम चरण को एक समस्या माना गया है:—

> सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
> दन्त्यं पादं सुपदरचितान् मेघदूताद्गृहीत्वा ।
> श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
> चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥१२६॥

इस प्रकार नेमिदूत में मेघदूत के १२५ पदो का उपयोग किया गया है, परन्तु मेघदूत की जो जो पद संख्या मिली है, उसमें मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं.—

जिनदास	(८ वीं या ९ वीं शताब्दी)	१२० पद
वल्लभ	(१२ वीं ,,)	१११ ,,
दक्षिणावर्तनाथ	(१३ वीं ,,)	११० ,,
मल्लिनाथ	(१५ वीं ,,)	१२१ ,,
स्थिरदेव	(१८ वीं ,,)	११२ ,,

इनमें से मल्लिनाथी संस्करण में पदों की संख्या सब से अधिक (१२१) है, परन्तु इनके आगे अन्त में पांच पद और पाये जाते है, जिनको प्रक्षिप्त समझा जाता है और जिन पर मल्लिनाथ की टीका नहीं मिलती। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि इन्हीं अन्तिम पाचों में वे दो पद भी है, जिनके चरणों को लेकर नेमिदूत के १२३ वें और १२४ वें पदो की रचना हुई है और नेमिदूत को नेमिदूतत्व प्राप्त हुआ है। वास्तव में इन दोनों को प्रक्षिप्त मान लेने पर काव्य अधूरा रह जाता है; जैसा कि इन दोनों* के अन्तिम चरणों से प्रकट है, इन्हीं दो में वियोग संयोग में और दुख सुख में परिवर्तित होकर 'अभिमत फल' की प्राप्ति कराता है। इनके बिना विरह-व्यथा शान्त नहीं होती और काव्य दुःखान्त ही रह जाता है, जो चाहे वर्तमान समालोचकों को रुचिकर भले ही हो, परन्तु भारतीय- परंपरा के विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि अन्यत्र × प्रतिपादित किया जा चुका है, भारतीय प्रबन्ध-काव्यों में लौकिक और पारलौकिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक का समन्वय कराने की प्रथा चली आ

---

* इन दोनों के अन्तिम चरण ये हैं,—

(१) [illegible] अभिमतफलं [illegible] ॥

(२) भोगानेवाभिमत [illegible] ॥

× देखिये [illegible]

रही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत पर लिखते हुये लिखा है—
"हममें से प्रत्येक निर्जन गिरिश्रृङ्ग पर अकेला खड़ा होकर उत्तर की ओर देख रहा है। बीच में आकाश, मेघ और सुन्दरी पृथ्वी के सुख-सौन्दर्य्य-भोग-ऐश्वर्य की चित्रलेखा के स्वरूप, रेवा, सिप्रा, अवन्ती, उज्जयिनी वर्त्तमान हैं। ये सब मन में स्मृति जगा देते हैं, पर पास में पहुँचने नहीं देते, आकांक्षाका उद्रेक करते हैं पर उनकी निवृत्ति नहीं करते। दो मनुष्यों के बीच में इतना अन्तर ?

"किन्तु यह बात मन में उठती है कि किसी समय हम लोग एक ही मानस लोक में थे, पर अब वहाँ से निर्वासित हो गये हैं। इसी से एक कविने गाया है—

"हृदय-पटल से बरबस बाहर किया तुम्हें अब किसने थे।"

केवल यही नहीं। वैदिक परम्परा के अनुसार अनेक पर्व (संयोजक अंग) होने से पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड पर्ववान् या पर्वत कहलाता है, रमणीय (भोग्य) होने से इसे 'रामपर्वत' कह सकते हैं। यही "अष्टचक्र, नवद्वारा देवपुरी अयोध्या" को यक्ष (जीव) मानों निर्वासित हुआ सा रहता है। है तो वह अकेला ही, परन्तु उसमें पंचकोश, तीनपुर, दशइन्द्रिय-स्थान आदि अनेक आश्रम (आश्रय स्थान) हैं जिनमें वह निवास करता है—स्निग्धच्छाया तरूपु वसतिं चक्रे रामगिर्याश्रमेषु। यों तो वह भोगों में फँसा हुआ अपनी दूरस्थ प्रिया को भूला रहता है, परन्तु ग्रीष्म (शम, दम, संयम आदि तपस्या) में तपने के पश्चात् जब आषाढ़ (सदाचार) के प्रथम दिवस (प्रमुख दीप्ति) पर मेघ (मन) आश्लिष्टसानु (उन्नत) होता है, तब 'प्रिया' की विशेष याद आती है और उसकी ओर मेघ (मन) दूत जाता है। इसके मार्ग में 'अन्नरसमय' से लेकर 'मनोमय' जगत् तक के अनेक भोग पड़ते हैं; इन्हीं का वर्णन 'पूर्वमेघ' में नदियों, नगरों आदि के प्रतीकों द्वारा किया गया है। 'मनोमय' जगत् पार करके 'विज्ञानमय' जगत् आता है,

यही 'उत्तरमेघ' की अमरावती है, जहाँ योगी को 'सोऽहं' की अनुभूति होती है :—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः

इस रूपक की वास्तविक पूर्ति तभी होती है, जब यक्ष अपनी प्रिया से मिल जाता है, जब 'सोऽहं' की अनुभूति प्राप्त हो जाती है। इसीलिये अन्तिम दो पदों में दोनों का मिलन दिखा दिया गया है। संभवतः दो पदों में कथा एक दम शीघ्रता से समाप्त होने तथा इतना सहसा मिलन होने के लिये आलोचक के तैयार न होने से वे उसे प्रक्षिप्त मानते हैं। ऐसे लोगों को भारतीय साहित्य की विशेषता—विशेष रवीन्द्र बाबू के निम्न लिखित शब्द याद रखने चाहिये—"महाभारत में यही बात है। स्वर्गारोहण पर्व में ही कुरुक्षेत्र के युद्ध को स्वर्ग लाभ होगया। कथाप्रिय व्यक्तियों को जहां कथा-समाप्ति रुचिकर होती, वहाँ महाभारतकार नहीं रुके; इतनी बडी कहानी को धूल के बने घर की भांति वे एक क्षण में छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ गये। जो संसार से विरागी हैं और कथा-कहानियों को उदासीन भाव से देखते हैं, उन्होंने ही इसके भीतर से सत्य का भी अनुसंधान किया; वे क्षुब्ध नहीं हुये।" बिलकुल यही बात मेघदूत के लिये कही जा सकती है।

यही कारण है कि जैन मनीषियों और महात्माओं ने मेघदूत के लेखक कालिदास को 'सद्भूतार्थप्रवर कवि' माना है और उसके अनुकरण पर जैन मेघदूत, नेमिदूत, शीलदूत, पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रन्थ लिखकर न केवल सदाचार और सयम का आदर्श स्थापित किया अपितु परमार्थ-तत्त्व का भी निरूपण कर दिखाया और साथ ही काव्य की भाषा मे रखने से उसे सरसता भी प्रदान की। उक्त अन्तिम दो पदों की टीकाकारों द्वारा उपेक्षा होने का कारण केवल यही हो सकता हे कि वे कवित्व की दृष्टि से उत्तम नहीं, केवल कथा उनमें द्रुतगति से छलांग मारती है। इसी कारण संभवतः ये

दोनों पद एक दृष्टि से आवश्यक होते हुये भी प्रायः भुला दिये गये और कालान्तर मे यदा-कदा उपलब्ध होने से प्रक्षिप्त माने जाने लगे।

नेमिदूत में अध्यात्म

नेमिदूत के ऐतिहासिक कथानक को भी आध्यात्मिक तत्त्व-निरुपण का माध्यम बनाया गया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु मेघदूत और नेमिदूत में पर्याप्त अन्तर है, जहाँ मेघदूत का यक्ष अमरावती (स्वर्ग) मे स्थित निज पत्नी के लिये व्याकुल है, वहां नेमिदूत का नायक सारे भोगों को छोड़कर योगासक्त हो स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त करता है और अपनी शरण में आई हुई राजमती को भी 'शाश्वत् आनन्द' की प्राप्ति करवाता है। जैन-धर्म के अनुसार तीर्थङ्कर में मानवता का वह आदर्श है, जिसे भगवत्तत्व कह सकते हैं और जो साधक के लिये एकमात्र साध्य है। अत जब साधक (राजमती) नेमिनाथ के पास जाता है, तो वे पर्वत (पिण्ड के आध्यात्मिक जगत) के उच्चतम शिखर (आनन्दमय कोश के उच्चतम स्तर) पर आसीन दिखाई पड़ते है, न कि मेघदूत के यक्ष की भांति केवल विभिन्न आश्रमों में बसते हुयेः—

> सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
> नासान्यस्तानिमिपनयनं ध्याननिर्द्धूतदोपम् ।
> योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
> वप्रक्रीडापरिणतगज-प्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

ऐसे महान् साध्य को प्राप्त करना सरल नहीं, उसके लिए अगाध-भक्ति की आवश्यकता है, जिसमें मान-मर्यादा, सुख-दुख आदि किसी की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि—

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहि चाहना चरनन लौं लीना रे।
साधन के रस–धार में, रहे निस–दिन भीना रे।
राग में स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।
साईं सेवन में देत सिर, कुछ विलम न कीना रे।
कहैं कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे।

अतः नेमिदूत में राजमती की विरह–व्यथा मे साधक की तपस्या का रूपक समझना चाहिए। भक्त तो अपने लौकिक 'पत्रं–पुष्पं' को ही बहुत कुछ मानता है, अतः वह भगवान के सामने उन्हीं को भोग्य रूप मे रखता है; राजमती द्वारिका आदि नगरियों, स्वर्णरेखा आदि नदियों तथा गंधमादन आदि पर्वतों के प्रतीकों द्वारा इन्हीं की ओर संकेत करती है, परन्तु 'शमसुखरतं' भगवान् द्वारा उन सबके ठुकराये जाने पर, वह अन्त में सब प्रयत्न छोडकर पूर्ण आत्मसमर्पण करके एकमात्र भगवत्कृपा की अभिलाषिणी रह जाती है :—

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां,
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्ष्यसे दह्यमानाम्।
तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश बाला,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥११०॥

नेमिदूत में रस

इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में नेमिदूत का शृङ्गार अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट हो जाता है। राजमती के विप्रलंभ का जन्म विवाहोपरान्त संभोग की आशा, अभिलाषा और संभावना के

विनाश से होता है, परन्तु इस वियोग की परिणति, सुखान्त होते हुए भी, साधारण शृङ्गात्मक संभोग में न होकर शान्तरस में होती है; नायक-नायिका का मिलन शारीरिक भोगों के लिये नहीं, मोक्षसौख्य की प्राप्ति के लिये होता है :—

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः ।

भारतीय आदर्श के अनुसार संभोग साध्य नहीं है, वह तो एक प्रकार से तपोमय जीवन का पर्य्यायवाची बनकर अन्ततोगत्वा मुक्ति का साधन होना चाहिये। इसीलिये रामायण और महाभारत का रतिभाव अयोध्या के वैभव-पूर्ण वातावरण को छोड़कर वन के कटकों में, अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशी का वियोग के श्वासोच्छ्वास में, बुद्धचरित एवं भर्तृहरि शतक का वैराग्य में और मीरा तथा गोपियों का भक्तिप्रवणता में पनपता हुआ शमभाव में परिणत होने की क्षमता प्राप्त करना चाहता है। रति-भाव की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य मे तीन प्रकार से हुई है—(१) संभोग को ही साध्य मानकर जैसे दुष्यन्त-शकुन्तला में (२) चिरन्तन प्रेम को ही साध्य मानकर, जैसे गोपियों और मीरा में तथा (३) वैराग्य-बुद्धि या कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर, जैसे बुद्ध-चरित एवं कुमारसंभव में। पहले प्रकार में प्रेमी प्रेमान्ध होकर चलता है और ठोकर खाकर सँभलता है। दूसरे में प्रेम का प्यासा प्रेमी समझता है कि—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है, और सुषुप्ति मिलन है॥

अतः वह चिरवियोगमें ही मग्न रहता है। इस प्रकार की प्रेमाभिव्यक्ति लौकिक जीवन के लिये घातक है, अतएव इसका चित्रण केवल भक्त के जीवन में ही ठीक समझा गया है, क्योंकि अंत में उसकी

परिणति भगवत्साक्षात्कार मे होकर सुखान्त हो जाती है। तीसरे प्रकार में प्रेमी भोग-बुद्धि की निस्सारता समझकर केवल कर्तव्य-भाव से संभोग में प्रवृत होकर निष्काम-भाव से कर्म करता हुआ मुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता है अथवा विरक्त रहता हुआ अपने प्रेमी को शाश्वत सुख का आस्वादन कराता है।

नेमिदूत का शृङ्गार अन्तिम प्रकार का है। कुमारसंभव की भांति यहां भी नायक एक पर्वत-शिखर पर योगासक्त होकर बैठा है और नायिका अभिलाषा-हेतुक वियोग से व्यथित होकर उसके सामने खड़ी याचना कर रही है-वह इह-लोक के. सौन्दर्य,ऐश्वर्य तथा आकर्षण का वर्णन करती है, नायक को कर्तव्यों का ध्यान दिलाती और यथासंभव उसमें संभोग-प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न करती है, परन्तु अत में पार्वती के समान सारे वैभव, विलास और सौन्दर्य का तिरस्कार सा करती हुई सखी-मुख से अपने पवित्र-प्रेम तथा अनन्य-साधन से युक्त प्रवास-हेतुक विप्रलंभ का सजीव वर्णन करवाती है, जिसमें राजमती की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, कृशता, व्याकुलता आदि के साथ-साथ उसके उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, स्वप्न आदि दशाओं का अच्छा चित्रण किया गया है। पार्वती के समान राजमती की माता भी उसे समझाती-बुझाती है, परन्तु इससे उसकी व्यथा कम नहीं होती :—

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय दुखं सखीना—
मन्तश्चित्तेष्वजनयदियं पाणिपंकेरुहाणि।
हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदती रुन्धती कोमलाभ्यां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबला वेणिमोक्षोत्सुकानि ॥१०८॥

स्वप्न में कभी-कभी प्रिय-मिलन हो जाता है; बात करने की इच्छा से मुह खोलती, परन्तु हाय! क्रूर कृतान्त को इतना भी सह्य नहीं है :—

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम्।
तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥११३॥

ऐसी अवस्था भी क्यों न हो ? काम-देव का उसपर कोप भी तो बहुत है, परन्तु इसका कारण वह स्वयं नहीं। जब वह श्री नेमि के तप को प्रलोभनों से भंग न कर सका, तब उसने अपना बदला बेचारी 'अबला' से लिया; ठीक है बेचारी पार्वती को भी तो यही सहना पड़ा था :—

असह्यहुंकार-निवर्तितः पुरा
पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायत पातमक्षिणो
द्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः।

इस प्रकार की व्यथा और वेदना सुनकर 'प्राणि-त्राण-प्रवण हृदय' श्री नेमिनाथ भला कैसे न पसीजते। उनका हृदय दया से द्रवीभूत होगया, परन्तु अर्थकाम परायण होने के लिये नहीं, अपितु धर्ममोक्ष के विस्तार के लिए, स्वयं नीचे गिरने के लिये नहीं, राजमती को अपने स्तर पर लाने के लिये :—

तत्सख्योक्ते वचसि सदय-
स्तां सतीमेकचित्तां,
संबोध्येशः सभवविरतो
रम्य-धर्मोपदेशैः।

अत. नेमिदूत मे जो रस–विस्तार पाया जाता है, वह रीति-कालीन शृङ्गारियों तथा अर्थकाम परायण प्रगतिवादियों की आंख खोलने वाला होना चाहिये। भारतीय साहित्य में जिस शृङ्गार की महिमा है, वह ऐसे की ही, न कि इंद्रियलोलुपता बढ़ाने वाले विला-सप्रधान शृङ्गार की। धर्म–मोक्ष की ओर जाने वाला ही शृङ्गार व्यक्ति के चरित्र को उदात्त बना सकता है,, और मानव–व्यवहार में "रसौ वै सः" को उतार कर मनुष्य–जीवन को सुन्दर, सत्य और शिव बनाता है। क्या हमारे साहित्य में शृङ्गार के इस आदर्श की पुन. स्थापना हो सकेगी ?

फतहसिंह,

एम. ए , डी लिट.

प्रस्तावना

भारतीय कवियों में महाकवि कालिदास कवियों में सिरमौर हैं। उनकी सुललित रचनाओं ने परवर्ती अनेक कवियों को प्रेरणा देकर काव्यनिर्माण में अग्रसर किया। उनके काव्य में भी मेघदूत सबसे छोटा होने पर भी काव्य चमत्कृति में विलक्षण है। इसमें मेघ को दूत बनाकर महाकवि ने नायक का सवाद नायिका को प्रेषण कर अपनी अनोखी सूझ का परिचय दिया है। इस काव्य से प्रभावित होकर विभिन्न कवियों ने ६०-७० दूत काव्यों का सृजन किया है * एवं कई सुकवियों ने तो इसी काव्य के अन्तिम एवं समग्र चरण लेकर पादपूर्ति काव्यों की सृष्टि की है, जिनका परिचय आगे दिया जायगा। प्रस्तुत नेमिदूत भी उन्हीं में से एक है।

जैसा कि मैने इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित ' भावारिवारण पादपूर्त्यादि स्तोत्रसग्रह:" की प्रस्तावना में बतलाया है कि पादपूर्ति काव्यों के निर्माण का प्रारभ ही कविकालिदास के मेघदूत के समग्रचरण पादपूर्तिरूप 'पार्श्वाभ्युदय' × काव्य से हुई है। इसके रचियता दि० आचार्य जिनसेन हैं, जिनका समय ९ वीं शती है, अत जैन कवियों ने उससे अधिक प्रेरणा ली, यह स्वाभाविक ही है। उपलब्ध पादपूर्ति-काव्य साहित्य में जैन कवियों की रचनाओं की प्रधानता ×× इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मेघदूत

१—देखें—सस्कृत में दूत काव्य साहित्य का निकास और विकास (प्र. जैन सिद्धान्त भारतवर्ष ?. अ २)। दूत काव्य सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें शीर्षक मेरा लेख वही भा ३ कि १

२ दे० जैन साहित्य और इतिहास पु. ८०४ से ६.

३—दे.० मेरा "जैन पादपूर्ति काव्य साहित्य" शीर्षक लेख (प्र० वही भा. ३-कि० २-३.

की पादपूर्ति रचनाओं को ही लीजिये। अभी तक ऐसी ६ रचनाओं का पता चला है जिनमें से सात जैन कवियों की है। पाठकों की जानकारी के लिये यहां उनका संक्षिप्त परिचय दे दिया जाता है—

१–**पार्श्वाभ्युदय**—मेघदूत की समग्र पादपूर्तिरूप यह एक ही एवं सर्व प्रथम काव्य है। आ॰ **जिनसेन** ने ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में भ॰ पार्श्वनाथ का चरित्र सुन्दर ढंग से गुम्फित किया है। इसके प्रत्येक श्लोक में मेघदूत के एक या दो चरण वेष्टित कर शृंगार रस के काव्य को वैराग्य–शान्तरस में परिणत कर कवि ने अपूर्व असाधारण विद्वत्ता का परिचय दिया है। पादपूर्ति–काव्य रचना में कवि के पराधीन होने से दुरूहता एव नीरसता का आजाना स्वाभाविक सा है पर प्रस्तुत काव्य उसका अपवाद है। इसको पढकर पाठक मौलिक काव्य जैसा ही रसास्वादन कर आनन्द विभोर हो जाता है। संस्कृत काव्यों में अपने ढंग का यह एक अद्वितीय काव्य है। प्रस्तुत काव्य व्याख्या सह प्रकाशित हो चुका है।

अब जिन काव्यों का परिचय दिया जा रहा है वे सभी अन्त्य पादपूर्ति रूप हैं।

२–**नेमिदूत**—प्रस्तुत ही है, इसका परिचय आगे दिया जा रहा है।

३–**शीलदूत**—बृहत्तपागच्छीय **चारित्रसुन्दर** गणि ने सं॰ १४८४ (७?) खंभात में इसकी रचना की। इसमें आ. स्थूलिभद्र का चरित्र वर्णित है। यशोविजय ग्रन्थमाला से यह प्रकाशित हो चुका है। इसके १२५ श्लोकों में मेघदूत के अन्त्यचरण सन्निवेशित हैं।

४–**चन्द्रदूत**—खरतरगच्छीय कवि विमलकीर्ति ने सं॰ १६८१ में इसकी रचना की। इसमें १४१ श्लोक हैं। कवि ने चन्द्र को

शत्रुञ्जय जाकर नाभेय (ऋषभदेव) जिन को वन्दना निवेदन करने भेजा है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे अभय जैन सग्रहालय में है। पं० माधव कृष्ण शर्मा-(क्यूरेटर—अनूप सस्कृत लायब्रेरी बीकानेर) द्वारा अड्यार (?) लायब्रेरी पत्रिका में इसके ३०—३५ श्लोक प्रकाशित किये हैं।

५-**मेघदूत समस्या लेख**—अठारवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय मेघविजयजी की १३० श्लोकात्मक यह रचना है। कवि ने मेघ द्वारा औरंगाबाद से गच्छाधिपति विजयप्रभसूरि को दीवबन्दर को विज्ञप्ति प्रेषणरूप में इसकी रचना स० १७२७ में की है। आत्मानन्द सभा भावनगर से यह काव्य प्रकाशित हो चुका है।

६-**चेतोदूत**—चित्त को दूत बनाकर गुरुश्री के पास विज्ञप्ति प्रेषणरूप में इसकी रचना हुई है। रचना बड़ी मधुर एवं प्रासादिक है, पर कर्त्ता का नाम नहीं। इसकी पद्य सख्या १२६ है, एव उपर्युक्त आत्मानन्द सभा से प्रकाशित है।

७-**हंसपादाङ्कदूत**—विद्वद्वर नाथूरामजी प्रेमी के विद्वद्रत्नमाला के पृष्ठ ४६ में इसका उल्लेख है। विशेष परिचय ज्ञात न हो सका।

मेघदूत के जैनेतर पादपूर्ति काव्यद्वय इस प्रकार हैं—

८-**सिद्धदूत**—अवधूतरामयोगी ने सं० १४२३ के माघ वदि १४ रेवातस्थ भट्टपुर में यशस्वी मल्लदेव के राज्य में व्यास श्रीचाङ्गदेव के कौतुहलार्थ इसकी रचना की। इसमे कैलाशस्थ ब्रह्मविद्या के पास छाया पुरुष को दूत नियुक्त कर भेजा गया है। यह भी मेघदूत के चतुर्थ पाद के पूर्तिरूप १३८ श्लोकों में है। श्रीहेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली पाटन के तृतीय ग्रन्थाङ्क रूप से सन १९२७ में प्रकाशित है।

६—हनूमतदूत—जोधपुर के आशुकवि प० नित्यानन्दजी शास्त्री ने कुछ वर्ष पूर्व ही इसकी रचनाकर वेंकटेश्वर प्रेस वम्बई से हिन्दी पद्यानुवाद सह प्रकाशित करवाया है।

अब नेमिदूत काव्य का संक्षिप्त परिचय करवाया जा रहा है।

नेमिदूत काव्य और उसके रचयिता

बाईसवें तीर्थंकर बालब्रह्मचारी भ० नेमिनाथ विवाह के भोजनोपलक्ष में एकत्र पशुओं की करुणावश राजीमती से विवाह नहीं करते हुए तोरण से रथ फेर गिरनार पर जाकर प्रव्रजित हुये। स्नेहवश सती राजीमती ने उनके समीप जाकर वापिस लौटने की विशेषरूप से प्रार्थना की। पर भ० नेमिनाथ ने उसे अस्वीकार करते हुए वैराग्यमय सद्बोध देकर दीक्षित कर उनको अपनी चिरसंगिनी बना लिया। उसी प्रसंग को लेकर कवि ने प्रस्तुत काव्य की रचना मेघदूत के अन्त्यचरण के पादपूर्तिरूप में १२७ श्लोकों में की है।

इस काव्य का नामकरण कवि ने नेमिदूत न कर नेमिचरित ही किया प्रतीत होता है, पर केवल मेघदूत की पादपूर्तिरूप होने से उसकी स्मृति-सूचक—दूतकाव्य न होने पर भी शीलदूतादि की भांति इसकी प्रसिद्धि नेमिदूत के नाम से हो गई प्रतीत होती है। निर्णयसागर प्रेस बम्बई से काव्यमाला द्वितीय गुच्छक में मूलमात्र से यह प्रकाशित भी हो चुका है, एवं उदयलाल काशलीवाल का हिन्दी अनुवाद भी पूर्व प्रकाशित है, पर यहां यह गुणविनय की वृत्ति के साथ प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत वृत्ति की प्रति महो० रामलालजी के संग्रह में करीब १५ वर्ष पूर्व हमारे अवलोकन में आई थी, जिसका उल्लेख हमने अपने यु० जिनचन्द्रसूरि ग्रन्थ में किया था। इसकी प्रति अन्यत्र कहीं ज्ञात न होने से गतवर्ष हमने प० रामसागरजी मिश्र से उसकी प्रेसकॉपी तैयार करवाली थी, एवं जैन सत्य प्रकाश के क्रमांक १२३ में इसका परिचय प्रकाशित करते हुए इसे 'जो प्रकाशित करना

चाहे हमसे मंगवाले' शब्दों द्वारा प्रकाशन की प्रेरणा की थी। तदनुसार पं० अभयचंदजी गांधी ने प्रकाशन का विचार व्यक्त किया था, पर वह न हो सकने से मुनि-विनयसागरजी की प्रेरणा से उन्हे भेज दी गई। इसके पश्चात् वृत्तिकार की स्वय लिखित प्रति कु० मोतीचन्दजी खजानची के सग्रह मे होने का पं. रामसागरजी से ज्ञात कर उन्हे वह प्रति भी भिजवादी। इस प्रति का प्रथम पत्र नहीं मिला, कुल पत्रों की सख्या १२ है। इसी प्रति के मुख्य आधार से मुनि-**विनयसागरजी** इसे सम्पादित कर प्रकाशित कर रहे हैं। जिनरत्नकोष से अभी ज्ञात हुआ कि इसकी अन्य प्रति भी प्राप्त है।

नेमिदूत के रचयिता विक्रम कवि कब हुए किस वंश व सम्प्रदाय के थे इत्यादि बातों को जानने के लिये कोई साधन उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से उनका परिचय केवल "सागणसुत विक्रम" इतना ही मिलता है। बीकानेर स्टेट लाइब्रेरी एवं हेमचन्द्रसूरि पुस्तकालय की प्रति में विक्रम के स्थान पर झाझण शब्द है पर अधिकाश एव प्राचीन प्रतियों में, विक्रम शब्द ही पाया जाता है, एव टीकाकार ने भी यही दिया है अतः ग्रन्थकर्त्ता का नाम विक्रम ही होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कुछ वर्ष पूर्व तक इस काव्य की प्राचीन प्रति का पता न होने से कई लोगों ने इन्हे १७ वीं शताब्दि के गुजरात के श्रावक कवि ऋषभदास के भाई होने का अनुमान किया था, क्योंकि उनके पिता का नाम भी सागण था पर उनके समय के पहिले की लिखित प्रस्तुत काव्य की प्रतियों के उपलब्ध होने से वह अनुमान भ्रान्त सिद्ध हो चुका है। नेमिदूत की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध होने से उनका प्रचार बहुत अधिक रहा विदित होता है।

विद्वद्वर नाथूरामजी प्रेमी ने विद्वद्रत्नमाला एव जैन साहित्य और इतिहास ग्रन्थ मे इनके दि० सम्प्रदायानुयायी होने का अनुमान किया है। पर जिस स० १३५२ के लेख के आधार से कल्पना की गई है, उस पर विचार करने पर वह भी समीचीन प्रतीत नहीं होती। कवि के वर्णित क्षेत्रज्ञान के वर्णन को देखते हुए उनका निवास स्थान गुजरात काठियावाड़ में ही सम्भव है।

प्रेमीजी ने इस काव्य का सुन्दर ढंग से परिचय अपने जैन साहित्य और इतिहास के पृ० ४६१ से ६५ में दिया है। विशेष जानने के लिये जिज्ञासु पाठकों को उसे देख लेना चाहिये।

कवि के समय निर्णय का निश्चित साधन अनुपलब्ध है, पर प्रस्तुत काव्य की प्रति सं १४७२ की उपलब्ध होने से उत्तरकाल १५ वीं शताब्दी एवं अन्य बातों पर विचार करने पर पूर्वकाल १३ वीं शताब्दि अनुमानित है।

वृत्तिकार परिचय

महोपाध्याय गुणविनय के जीवन के सम्बन्ध में साधनाभाव से हमारी कुछ भी जानकारी नहीं है। आप कहां के थे, किस वंश के थे, माता-पिता का क्या नाम था, कब जन्म हुआ, दीक्षा कब ली, उपाध्याय पद कब मिला व स्वर्गवास कब एवं कहां हुआ, और आपके उपदेश से क्या क्या धर्म प्रभावना हुई, इत्यादि बातों के सम्बन्ध में कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है। अतः समकालीन अन्य सामग्री एवं आपके साहित्य में जो कुछ जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे उपस्थित करते हुए आपके रचित साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

जन्म एवं दीक्षा

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आपके जन्म संवत् एवं स्थानादि के सम्बन्ध में कोई निश्चित साधन प्राप्त नहीं है अतः अनुमान से ही काम चलाना होगा। आपकी 'सर्व प्रथम' रचना "खण्ड प्रशस्ति काव्य की टीका" है। जिसका निर्माण सं. १६४१ में हुआ है। खण्ड प्रशस्ति जैसे कठिन काव्य के ऊपर टीका लिखने की योग्यता के लिये कम से कम २५ वर्ष की अवस्था अपेक्षित है, आपका जन्म सं. १६१५ के लगभग संभव है। आपके गुरु श्री के विहार एवं आपकी भाषा पर विचार करने से आपका जन्म मरुभूमि (मारवाड़) में ही [illegible] श्री जिनसिंहसूरिजी (महिमराज) [illegible] श्री [illegible] के [illegible] से

आपकी दीक्षा उनसे पूर्व सं. १६२१-२२ में हुई थी। उस समय आपकी अवस्था नियमानुसार कम से कम आठ वर्ष की भी मानली जाय तो आपका जन्म स. १६१३-१४ के लगभग होना चाहिए। आपके गुरु जयसोमजी प्रसिद्ध विद्वान थे, अतः आपका विद्याध्ययन उन्हीं के पास हुआ होगा।

गुरु परंपरा

आपने अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में भी जिनकुशलसूरिजी से परंपरा का सम्बन्ध मिलाया है। वंश वृक्ष के पत्रों के अनुसार आपका वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है—

श्रीजिनकुशलसूरि (दे० हमारे प्र० दादा श्रीजिनकुशलसूरि)
|
महो० विनयप्रभ ❀ (गौतमरास, नरवर्मचरित्रादि के कर्त्ता)
|
उपा० विजयतिलक (शत्रुंजयस्तवनकार)
|
वा० क्षेमकीर्त्ति (इन्हीं के नाम से क्षेमशाखा हुई)
|
वा० क्षेमहंस (लघुकाव्यत्रयी, वृत्तरत्नाकर के टीकाकार)
|
वा० क्षेमध्वज — सोमध्वज
|
वा० क्षेमराज (उपदेश सप्ततिका आदि अनेक ग्रन्थों के निर्माता)
|
वा० दयातिलक,
|
वा० प्रमोदमाणिक्य,
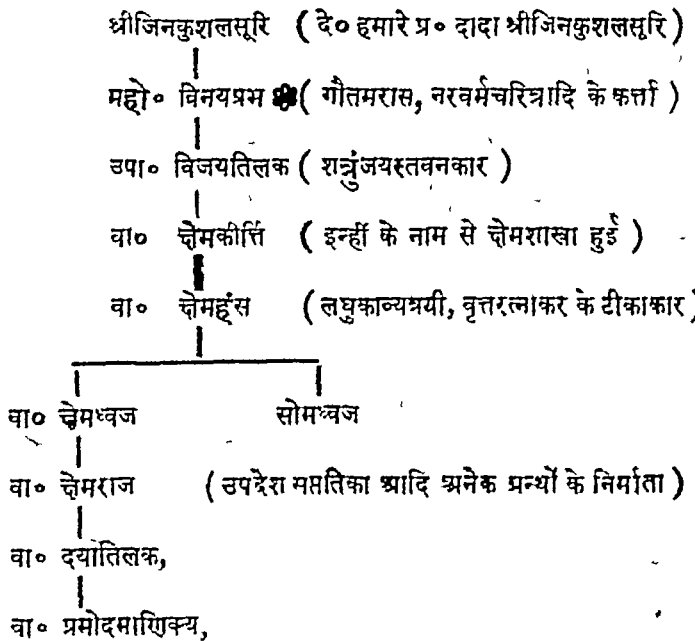
❀ इनके स्तोत्र रास स्तवनादि का संग्रह—मुनि—श्री विनयसागरजी संपादन कर "विनयप्रभ-साहित्य-संग्रह नाम" से प्रकाशित करवाने वाले हैं।

- पद्ममन्दिर
- गुणरंग
- दयारंग
- क्षेमसोम
  - पुण्यतिलक,
    - विद्याकीर्ति,
- उ० जयसोम
  - उ० गुणविनय,
    - उ० मतिकीर्ति ❀
      - उ० सुमतिसुंदर
        - उ० कनककुमार
          - वा० मुनिरंग
            - वा० क्षमानंदन
          - गोपालजी
            - सूजोजी
              - खीवोजी
                - पं० वर्द्धमान
                  - जीवण
          - कमलसौभाग्य
            - उ० धर्मकल्याण
              - उ० कनकसुंदर
                - उ० रत्नविमल
                  - क्षमाधर्म
                  - गुप्तिधर्म
                    - क्षमाधीर
                      - मयाकुशल
            - दयामूर्ति
              - प० वर्द्धमान
                - देवकुमार
  - जयतिलक
    - तिलक प्रमोद
      - भाग्यविशाल

❀ आपके रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं— १—निर्युक्ति स्थापन (सं० १६७६), २—लखमसी कृत ३१ प्रश्नोत्तर, ३—गुणकित्व षोडशिका (मुनि विनयसागरजी के संग्रह में प्रेस कोपी), ४—ललितांग रास, ५—धर्मबुद्धिरास (सं० १६६७ राजनगर), ६—अघट कुमार चौ० (१६७४ आगरा) ७—लुंकामतोत्थापक गीत (गा० ६१), ८—पंचकल्याणक स्तवन का अर्थ।

वाचक पद

संवत् १६४८ में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी सम्राट अकबर के आमंत्रण से लाहोर पधारे। उस समय अन्य विद्वान साधुओं के साथ आप एवं आपके गुरु भी उनके साथ थे। आपकी विद्वता उस समय काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी, अनेकों ग्रन्थों पर टीकायें बनाकर आप एक समर्थ टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध थे, अतः सं० १६४६ के फाल्गुन शुक्ला २ को यु० जिनचन्द्रसूरिजी ने वा० महिमराज को आचार्य पद, रत्ननिधान ❀ को एवं आपके गुरु वा० जयसोम को उपाध्याय पद दिया था, उसी समय आपको एवं कविवर समयसुन्दर को वाचनाचार्य पद प्रदान किया था, जिसका उल्लेख आपके गुरु जयसोमजी के रचित कर्मचन्द्र वंश प्रबंध एवं आपके रचित कर्मचन्द्र वंश प्रबन्ध वृत्ति एवं कर्मचन्द्र वंशावली रास में पाया जाता है।

सम्राट जहांगीर द्वारा कविराज पद प्राप्ति—आपकी विद्वत्प्रतिभा असाधारण थी। सम्राट जहांगीर ने आपके नवीन काव्यों को सुनकर आपको कविराज का पद दिया था। जिसका उल्लेख आपके विद्वान् शिष्य मतिकीर्ति ने अपने निर्युक्ति स्थापन प्रश्नोत्तर ग्रन्थ की प्रशस्ति में किया है।

"चम्पू-रघु-मुख्यानां, ग्रन्थानां विवरणात्तथा जहांगीरात्।
नवनवकवित्वकथने, स्याद्प्राप्तं कविराजपदं ॥ ५ ॥

साहित्यसेवा—आपने विद्याध्ययन समाप्त कर सं० १६४१ में साहित्य का निर्माण प्रारंभ किया, जो सं० १६७६ तक निरन्तर चालू रहा। फलतः आपकी रचनाओं की संख्या विशाल है। पहले पहल आपने उपयोगी काव्यों, जैन प्रकरणों एवं स्तोत्रों पर टीकायें (संस्कृत एवं भाषा टीका बालावबोध रूप में) बनाना प्रारंभ किया, और सं० १६५४ से रास चौपाई आदि राजस्थानी भाषा के काव्यों का निर्माण कर मातृ भाषा की सेवा करने लगे। यद्यपि इससे पहिले भी आपने छोटी मोटी कई राज—

❀ रत्ननिधान वृत्ति के आप संशोधक थे।

स्थानी भाषा मे रचनायें की है पर बडे काव्य मुक्तक पदों को छोड़ कर यहा प्रबन्ध काव्यों की दृष्टि से ही स० १६५४ मे प्रारभ लिखा गया है। बालावबोध भाषा टीकायें राजस्थानी गद्य मे लिखी गई है । आपके रचित साहित्य की सूची दी जा रही है । इनके अतिरिक्त कई सस्कृत मे स्तोत्र एव भाषा के स्तवन, सज्झाय गहुली आदि अनेक पाये जाते हैं । जिनमे से ८० के करीब मैंने सग्रहीत किये ह । आपकी कृतियों का जैसा चाहिये वैसा प्रचार नहीं हो पाया था अतः कई ग्रन्थ नष्ट हो गये प्रतीत होते हैं, ऐसे ग्रन्थों मे से दशाश्रुतस्कन्ध वृत्ति आदि हैं ।

आपके अक्षर सुन्दर थे, बीकानेर के जैन ज्ञान भण्डारो एव हमारे सग्रह मे भी आपके लिखित कई ग्रन्थ एव स्तवनादि के पचासों पत्र उपलब्ध हैं।

विहार एव तीर्थयात्रा—जैन साधुओं का जीवन भ्रमणशील है वे एक स्थान पर अधिक समय न रहकर सर्वत्र पैदल विहार कर धर्म प्रचार करते रहते हैं, इस भ्रमण मे धर्म प्रचार के साथ तीर्थयात्रा का भी लाभ हो जाता है।

स० १६४८ मे बीकानेर से शत्रुञ्जय का यात्री संघ निकल कर संघपति सोमजी के साथ गिरिराज की यात्रा को गया था, उसमें आप भी सम्मिलित थे और उस संघ के वर्णन रूप मे आपने शत्रुंजय चैत्य परिपाटी स्तवन बनाया है। सं० १६६३ फाल्गुन सुदी ३ को भी आपने शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा कर स्तवन बनाया व स० १६७५ वैशाख सुदी १३ को सं० रूपजी कारित वृहद् प्रतिष्ठा महोत्सव के समय भी आप जिनराजसूरिजी के साथ शत्रुंजय पर विद्यमान थे ।

आपके रचित स्तवनों में फलोधी पार्श्वनाथ, मालासर में ऋषभदेव, सागानेर में पद्मप्रभ, विशाला मे विमलनाथ, बीकानेर मे नमिनाथ, मण्डुल (?) मे पार्श्वनाथ, गौडीपार्श्वनाथ, पालीपार्श्वनाथ, लोद्रवा पार्श्वनाथ, नाकोडा पार्श्वनाथ, शंखेश्वर पार्श्वनाथ निंवाज पार्श्वनाथ, राडद्रह में वीरप्रभु व कुशलसूरि, खभात मे स्तभनपार्श्वनाथ, जैसलमेर मे पार्श्वनाथ, अमृतसर में कुशलसूरिजी के दर्शन का उल्लेख पाया जाता है ।

सशंकित

१. मितभापिनी वृत्ति (उ. जै० गुर्जर कवियों में है पर भ्रमित ज्ञात होती है
२. तपगच्छचर्चा, पत्र ८ आत्मानन्द सभा
(वास्तव में यह तपागच्छीय गुणविजय रचित होगी)
३ गीतसार टीका (नलचंपू की प्रस्तावना में उल्लेख)

संग्रहात्मक

१— हुण्डिका सं० १७५७ सेसणा श्लोक स० १२०००
२— प्रश्नोत्तर—

रास चौपाई

१. कयवन्ना संधि सं० १६५४ नेमिजन्म महिमपुर, बीकानेर भ
२. कर्मचन्द्र वंशावली रास. ,, १६५६ माघ वदि १० नवरनगर, प्रकाशित
३. अजना सुन्दरी रास. ,, १६६२ (६३?) चे. सु ६ खभात
४. ऋषिदत्ता चौपाई ,, १६६३ ,, ,,
५. गुणसुन्दरी ,, ,, १६६५ ,, नवानगर
६. नलदमयंती प्रबन्ध ,, १६६५ आसु वदि. ६ ,,
७. जवू रास ,, १६७० श्रा. सुदि १० वाडमेर
८. धन्नाशालिभद्र चौपाई ,, १६७८ मि. १ आगरा (श्रीमाल मानसिंघ आग्रह से)
९. अगडदत्त रास
१०. कलावती चौपाई ,, १६७३ श्रा. सुदी ६ सागानेर
११. बारह व्रतरास ,, १६५५
१२. जीवस्वरूप चौपाई ,, १६६४ राजनगर पत्र १३ भा. रि. इ. पूना
१३. मूलदेव चौपाई ,, १६७३ जे. सुदी १३ सागानेर
पत्र ५ मुकनजी स०
१४. दुमुह प्रत्येक बुद्ध चौपाई आदिपत्र रामलालजी सं०
१५. शत्रुंजय चैत्य परिपाटी गा. ३२ स० १६८४

१६ पार्श्वनाथ स्तवन ,, २७ ,, १६५७ आषाढ पूर्णिमा
१७. चार मंगल गीत ,, २७ ,, १६६०
१८. शत्रुंजय यात्रा स्तवन १६६३ फा. सुदी १२
१६. जेसलमेर पार्श्वनाथ स्तवन गा. १६ सं० १६७२
२०. जिनराजसूरि अष्टक १६७६
२१ निंबाज पार्श्व स्तवन १६७६ चै. बदी २

खण्डनात्मक

१– अचलमत स्वरूप वर्णन १६७४ भा सुदी ६ मालपुर (थाहरु भंडार)
२– लुम्पकमततमोदिनकर चौपाइ १६७५ सा वदी ६ सागानेर (जयपुर भं.
३– तपा ५१ बोल चौपाइ १६७६ राडद्रहपुर (बीकानेर भंडार)
४– प्रश्नोत्तर मालिका (पार्श्वचन्द्र मतदलन) १६७३ सागानेर
५– कुमतिमत खण्डन (उत्सूत्रोद्घाटन कुलक) १६७५ नवानगर, प्रकाशित

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रस्तुत काव्य मूल एवं हिन्दी अनुवाद इससे पूर्व भी प्रकाशित हो चुका है पर इस संस्करण की दो दृष्टियों से विशेष महत्व एवं उपयोगिता है। पहिली विशेषता अद्यावधि अज्ञात प्राय: वृत्ति प्रकाशन एव दूसरी हिन्दी पद्यानुवाद का साथ होना। वृत्ति के होने से संस्कृत के साधारण अभ्यासियों के लिये काव्य भाव को समझना एवं रसास्वाद करना सुगम हो गया है, एव हिन्दी पद्यानुवाद से संस्कृत से अनभिज्ञ जनसाधारण भी इसको हृदयगम कर सकेंगे। हिन्दी पद्यानुवाद बहुत ही सुन्दर बना है, एव उसके पढ़ने से मौलिक हिन्दी काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है। इसके रचयिता भैसरोडगढ निवासी महारावत श्री हिम्मतसिंहजी साहित्यरंजन हैं जो काव्य मर्मज्ञ होने के साथ ख्याति प्राप्त सुकवि हैं। जन्मत जैन न होने पर भी आप जैनधर्म से अनुराग रखते हैं, और मुनि-विनयसागरजी के अनुरोध से उन्होंने प्रकाशित करने की अनुमति दी, एतदर्थ हम आपके विशेष रूप से आभारी हैं।

अन्त में मुनि श्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार एवं वृत्तिकारादि के सम्बन्ध में अपने मनोभावों को प्रकाशित करने का मुझे सुयोग दिया, एत-

दर्थ आपका आभार मानते हुए भविष्य में भी वे साहित्य सेवा में निरंतर अधिकाधिक अग्रसर होते रहें यही अनुरोध करता हुआ अपनी प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ। काव्यशास्त्र का तथाविध ज्ञान न होने से साहित्यिक दृष्टि से विशेष प्रकाश नहीं डाल सका, इसका मुझे स्वयं खेद है।

फाल्गुन शुक्ला ३
सं० २००४,

अगरचन्द नाहटा

नेमिदूतश्लोकानां मातृकावर्णक्रमेणानुक्रमणी।

	पृष्ठ सं०	प० सं०
अत्रात्युग्रैः	२१	३५.
अन्तर्भिन्ना	५४	६६.
अन्तस्तापान्	५६	१०३.
अस्माद्द्रेः	१६	२७
अस्माद्द्रेः	७	६
अस्मिन्नेते	६१	११५.
अस्त्रीकारात्	५०	६०.
आकर्ण्याद्रि	३३	५८.
आकांक्षन्त्या	५०	६१.
आरूढस्य	३१	५५.
आरोप्यांके	५७	१०५.
आलोक्यैनं	६	८.
आहूयैनां	५५	१०२.
इत्थं कृच्छ्रे	५८	१०८.
इत्युक्ते स्याः	४६	८८.
इत्येतस्याः	६३	११६.
उच्चैर्भिन्नाञ्जन	२६	५०.
उत्कल्लोला	२८	४६.
उद्यत्कामा	४३	७७.
उद्यत्त्वालव्यजन	४६	८३.
उद्यानानां	२२	३७.
उद्दीच्येमं	३	३.
एणांकाश्मावनिषु	४५	८०.
एतत्तुङ्गं	१४	२३.

एतद्दु खापनय	५१	६३.
एतानीत्थ	६०	११२
कर्णे जातिप्रसवं	४०	७१
कात्र प्रीतिस्तव	१०	१४.
किं शैलेस्मिन्	१२	२६.
कुर्वन्पान्थान्	११	१७
कौन्दोरांसा	४४	७८.
गच्छेर्वेलातटं	२५	४४.
गत्वा यूनां	४१	७४
गत्वा शीघ्रं	६५	१२३
गायन्तीभिः	४३	७६.
गीताद्यैर्वा	५२	६६.
तत्रोपास्य	२२	३८
तत्रासीनो.	३७	६५.
तत्सख्यूचे	४६	८६
तत्सख्योक्ते	६५	१२४.
तन्नः प्राणानव	१६	२६.
तन्मत्स्येवं	८	१२
त्वत्प्राप्त्यर्थं	५२	६४
त्वद् रूपेण.	२३	३६.
त्वत्संगाशाकुलित	६३	१२०
त्वामर्थंस्या.	६५	१२२.
त्वामायान्तं	२४	४२.
त्वामायान्तां	२८	४८
त्वां याचेहं	१६	३१.
तस्माद्वर्त्मानघ	३०	५२
तस्माद् गच्छन्	३५	६१.
तस्माद्बालां	६४	१२१.
तस्मिन्नुद्यन्	१८	३०.
तस्मिन्नुच्चैः	२७	४६
तस्मिन्नद्रौ	३४	५६.
तस्योद्याने	१७	२८
तस्याः पश्यन्	२३	४०.
तस्या हर्षेन्	३८	६७.
तस्याधस्तात्	१६	३२.
तामासाद्य	२१	३६.
तां दुःखार्त्तां	४	४.
तामुत्तीर्णः	२६	५१.
तां वेलाङ्के	२६	४५.
तांस्तान्ग्रामान्.	३५	६२.
तुङ्गं शृङ्गं	६	७.
दुःखं येनानवधि	६२	११७.
दुर्लंघ्यत्वं	५६	१११.
दृष्ट्वा रूपं	१८	२६.
धर्मज्ञस्त्वं	५६	११०
धूतानिद्राजुंन	१५	२४
नत्वा पूर्वं	४८	८७
नानारत्नोपचित	३०	५३.
नाम्ना रत्नाकरं	२७	४७.
नीपामोदान्	३४	६०.
नोत्साहस्ते	१५	२५
प्रत्यासत्तिं	३६	६३.
पश्यन्ती त्वत्	५३	६८.
प्राणित्राणप्रवण	१	१

प्राप्यानुज्ञा	५८	१०९.
प्राप्योद्यानं	३६	६४
प्रावृट् प्रान्तं	६३	११८.
पुष्पाकीर्णं	४७	८४
पूर्वं येन	१२	१८.
प्रेत्यैतस्मिन्नपि	५५	१०१.
पौरैस्तस्याः	२४	४१
बाणस्याजौ	४५	८१
भास्वद्भास्वन्	३२	५६.
मन्नाथेन	६१	११४
मातुःशिक्षाशतं.	५७	१०६.
मुक्तातङ्कास्तव	१४	२२
यत्प्रागासीत्	१०	१५.
यत्र स्तम्भान्	२०	३४.
यस्मिन् पूर्वं	३१	५४.
यस्यां पुष्पोपचय	४४	७९.
यस्यां रम्यं	४०	७२.
यस्या सान्द्रान्	२०	३३
याते पाणिग्रहण	५२	९५.
यान्तं तस्यां	४७	८५.
या प्रागस्या.	५३	९७.
यामालोक्य	१३	२०.
यामुद्दामाखिल	३९	६९
यायास्तस्मात्	४६	८२.
युक्तं लक्ष्म्या	१३	२१.
रम्या हर्म्यैः	११	१६.
रात्रौ निद्रां	६०	११३.
रात्रौ यस्यां	४२	७५.
वत्से शोकं	५६	१०४
वन्याहारा	९	१३
व्याधिर्देहान्	३९	७०
वीक्ष्याकाशं	७	१०.
वृत्तान्तेस्मिन्	५४	१००.
वृद्ध साध्व्या	५७	१०७
शय्योत्सङ्गे	५१	९२.
शश्वत् सान्द्र	३८	६८
श्रीमान् योगात्	६६	१२५.
श्रुत्वा तीरे	२५	४३.
श्रुत्वा यान्तं	३२	५७.
शैलप्रस्थे	८	११.
सद्भूतार्थं	६६	१२६.
सा त दूना	५	६.
सा तत्रोच्चै	२	२.
सान्द्रोन्निद्रार्जुन	३७	६६.
सिद्धे सङ्ग	४	५.
सौध श्रेणीः	४८	८६.
संचिन्त्यैवं	६२	११६.
संसक्ताना	४१	७३

सटीक-नेमिदूत-शुद्धिपत्रकम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धिः
२	८	तरुपुच्छाया	तरुपु छाया
३	६	अनिमेषे	अनिमिषे
५	२२	आधीना	अधीना
	२५	ययाचे	याचे
६	६	निद्यत	निंद्यत
	१४	विनिर्मित नि	विनिर्मितानि
७	२२	तपाप्यपे	तपन्त्यातपे
१४	७	सम्प्रत्येते	सम्प्रत्यन्तः
१५	१६	म्लानास्याब्जाः	म्लानाब्जास्या
२०	१६	विद्रमाणा	विद्रुमाणां
२१	२१	आस्तीर्णान्तरचिमल	आस्तीर्णांतर्विमल
२२	२१	प्रेक्षा	पूजा
२४	१५	आस्थायामारुह्य	आस्थायारुह्य
	१६	ग्राम्या	ग्राम्याः
२५	१४	तेन	ते न
२६	१६	ज्ञातास्वादो विपुल	लब्धास्वादः पुलिन
२६	१२	यर्दितं	मर्दितं
	२४	दशदिश	दशदश
३०	४	तत्र	यत्र
	२१	नानारत्नै ये	नानारत्नैः
३१	१०	इन्दुः	इन्दो
३२	२	सन	सन्

	२०	वृहंति	वृहन्ति
३३	२	न्नापन्नार्ति	नापन्नार्ति
३४	५	यस्मिन्	तस्मिन्
३७	१३	तेनात्वात्मनेपदे	तेनत्वात्मनेपदे
	२५	वह्निर्ध्वनि	वह्निध्वनि
३६	६-६-१३	योधवर्गाः	योधवर्गः
	१०	शूरसंघाः अध्यासन्ते-अधितिष्ठन्ति	शूरसंघः अध्यासते-अधितिष्ठति
	१३	किंभूता	किंभूतो
४३	११	समूहाः	समहाः
४३	१८	अतिवाह्यन्ते	अतिवाह्यन्ते
	१८	प्रदोष	प्रदोषा
४५	१५	यस्माद्व ेला	यस्माद्वेला
४८	१२	अथ	अन्य
४६	३–७	आनुविद्धां	आणुविद्धां
५०	२१	किं कुर्वत्या	किं कुर्वन्त्या
५१	१८	किमपि	कितव
५५	१४	दुहितृ	दुहितु
	२०	द्व न्यायते	द्वार्यते
५६	७	यास्यत्पूरुः	यास्यत्यूरुः
	८	तापाश्चेतसि	तापाच्चेतसि
	२४	कच्ठाच्युतो	कण्ठाच्च्युतो
६५	१०	अतुलां	अतुलं
६६	५	तच्छिष्यता	तच्छिष्यता
७१	२२	म्लान	स्नान

॥ ॐ नमः ॥

नमो नमः श्रीमज्जिनमणिसागरसूरीश्वरपादपद्मेभ्यः ।

मन्त्रिवर्य्य-श्रीविक्रम-प्रणीतं—

श्री नेमिदूतम् ।

उपाध्यायश्रीगुणविनयगणिविनिर्मितवृत्तिविभूषितम् ।

❀ वृत्तिकार-मंगलाचरणम् ❀

श्रीपार्श्वं प्रणिपत्य सत्यमनसा सानन्दवृन्दारकै-
वन्द्यं श्रीगुरुराजबन्धुरपदद्वन्द्वं च दोषापहम् ।
राजीमत्यभिवल्लभोक्तिरचना विज्ञप्तिरूपात्मकं
सत्काव्यं विवरीपुरस्मि विशदं श्रीनेमिदूताभिधम् ॥ १ ॥

—मूलम्—

प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्गं समग्रं,
हित्वा भोगान् सह परिजनैरुग्रसेनात्मजां च ।
श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्य्याश्रमेषु ॥१॥

श्रीमान्–लक्ष्मीवान् नेमिर्नेमिनाथो जिनः 'रामगिर्याश्रमेषु' रामो–रमणीयो यो गिरिरुज्जयंताख्य पर्वतस्तस्याऽऽश्रमास्तपस्विवासास्तेषु वसतिं चकार-निवास कृतवान् । 'राम श्यामे हलायुधे । पशुभेदे सिते चारौ, राघवे रेणुकासुते । इत्यनेकार्थः' । यद्यपि श्रीनेमेरेकाकित्वाद्रामगिर्याश्रमे इत्येकवचनमेव न्याय्य, तथापि सन्वेगरसाकुलितचेतसा स्त्र्यादिजनवियुक्तस्थानेष्वेव निवसनात नैकत्रावस्थान मभवति, कदाचित् क्वचिदाश्रमे दिवसमतिवाहयन्तीति बहुवचनं, अनेन चानेकाश्रमपावित्र्यं च पर्वतस्य व्यज्यते । कथभूतेषु स्निग्धच्छाया-तरुषुच्छाया आतापाऽभावस्तया उपलक्षितास्तरव., यद्वा छाया-शोभा तदर्थं तरवः,.यद्वा छाया–प्रधानास्तरव पूर्वापरदिग्भागभाज्यपि सूर्ये–सवितरि येषां छाया न निवर्त्तते-ते छायातरवः, यद्वा छाया-पङ्क्तिस्तस्या तरव स्निग्धा सरसपल्लवोल्लासितच्छायास्तरवो येषु तेषु, छायाशब्दः पंक्तिवाचकोप्यस्ति । यदुक्तमनेकार्थे-'छाया पङ्क्तौ प्रतिमाया-मर्कयोषित्यनातपे । उत्कोचे पालने कान्तौ, शोभाया च तमस्यपीति'। किम्भूत श्रीनेमि. [2] 'प्राणित्राणप्रवणहृदय ' प्राणिना प्रकृतत्वाच्छाग–सारंगादीना यत्त्राण–रक्षणं तत्प्रवणं–तदासक्त हृदयं- चित्त यस्य स , इत्यनेन श्रीनेमिः राजीमतीविवाहार्थमुपागतस्तस्यानेककारुण्याश्रयमृगा–दिवाटकमवलोक्य पश्चाद्वालितरथस्य परमकृपाश्रयत्वं बोधित । किंकृत्वा तत्र वसतिं चकारेत्याह–समग्र-समस्त बन्धुवर्ग–स्वजनसमुदायं परिजनैः सह भोगान् उग्रसेनात्मजा-राजीमतीं च हित्वा–परित्यज्य, इत्यनेन भगवतो नीरागता बोधिता। अतएव कथंभूतः [2] 'विषयविमुखः' विषयाच्छब्दादिविषयरागाद्विमुख – प्रतिकूलमनाः । पुनः किंभूतः [2]'मोक्षकामः' मोक्षं-निःश्रेयस कामयते-वाञ्छयतीति मोक्षकामः, इत्थंविध श्रीनेमीरैवताद्रौ उवासेति प्रथमवृत्तार्थ । अत्र स्वभावोक्तिरलकार ॥ १ ॥

सा तत्रोच्चैःशिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिर्द्धूतदोषम् ।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अथ श्रीनेमिनाथं रेवताद्रौ सम्प्राप्तं श्रुत्वा श्रीराजीमतीस्वप्रियमिलन-गाढोत्कंठा घटितरणरणकरणव्याकुलमानसा स्वपित्रादिभिर्वार्यमाणापि प्रियसखी-सहायात् विहायान्यकृत्य तत्रैव गिरौ जगाम । तत्र च सा राजपुत्री-राजीमती एन मुनीशं-योगिस्वामिनं ददर्श-दृष्टवती । किंभूतं मुनीशं ? उच्चैः शिखरिणि-अत्युन्नतपर्वते उज्जयंताख्ये समासीनमुपविष्टं । पुनः किंभूतं ?'नासान्यस्तानिमिषनयनं' नासिकाया न्यस्ते-स्थापिते ध्यानार्थं अनिमेषे-निमेषरहिते नयने-नेत्रे येन स तं । पुनः किंभूतं ? 'ध्याननिर्द्धूतदोषं' ध्यानेन निर्द्धूताः-पराकृता दोषा-रागद्वेषादयो येन स तं । पुनः किंभूतं ? 'योगासक्तं' योगो-मोक्षोपाय श्रद्धानज्ञानचरणात्मकस्तत्रासक्त-आलीनो यः स तं । पुनः किंभूतं ? 'सजलजलदश्यामलं' सजलो-जलभृतो यो मेघस्तद्वत् श्यामलं-नीलवर्णं । पुनः किंभूतं ? 'वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं' वप्रे तटे क्रीडा वप्रक्रीडा तस्यां परिणतस्तिर्यक् दत्तप्रहारो योऽसौ गजस्तद्वत् प्रेक्षणीयो दर्शनीयो य स तथा तं । अत्र नेमिगजयोर्लुप्तोपमालंकारः ॥ २ ॥

उद्वीक्ष्येमं शमसुखरतं मेदुराम्भोदनादै-
नृत्यत्केकिव्रजमथ नगं प्रोन्मिषन्नीपपुष्पम् ।
सा शोकार्त्ता क्षितितलमगात् स्यान्न दुःखं हि नार्य्याः,
कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

सा राजीमती शोकार्त्ता भर्तृनुरागाभावाच्छोकपर्याकुला सती क्षितितलं-पृथ्वीतलं अगात्-प्राप्ता । किंकृत्वा ? इमं-प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणं, श्रीनेमिं शमसुखरतं-उपशान्तिसुखोपगतं उद्वीक्ष्य-दृष्ट्वा, अथेति-पुनरर्थे. । अथ पुनर्नगं-पर्वतमुद्वीक्ष्य । किंभूतं नगं ? मेदुराम्भोदनादैर्मेदुराः-पुष्टा ये अम्भोदनादा-मेघध्वनयस्तैः । किंकृतं ? 'नृत्यत्केकिव्रजं' नृत्यन्-क्रीडां कुर्वन् , केकिव्रजो-मयूरकलापो यस्मिन्स तं । पुनः किंभूतं ? 'प्रोन्मिषन्नीपपुष्पं' प्रोन्मिषन्ति-विकसन्ति नीपवृक्षाणां पुष्पाणि-कुसुमानि यस्मिन्स तं । प्रथममेव शोकलक्षणमर्थमर्थान्तरेण दृढयति, हि-निश्चितं नार्य्याः 'कण्ठाश्लेषप्रणयिनि' कण्ठस्य आश्लेषः कण्ठाश्लेषः,

कण्ठाश्लेषे प्रणयोऽस्यास्तीति कण्ठाश्लेषप्रणयी तस्मिन् प्रियतमलक्षणे जने दूरसंस्थे पुनर्दुःख किं न स्यात् ? अपितु विशेषत एव स्यात् । गिरिशिखरादुत्तीर्णत्वाद्राजीमत्या अपि प्रियेण सह दूरसंस्थत्वमिति । अत्रार्थांतरन्यासोलंकारः ॥ ३ ॥

तां दुःखार्त्तां शिशिरसलिलासारसारैः समीरै-
राश्वास्येव स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः ।
साध्वीमद्रिः पतिमनुगतां तत्पदन्यासपूतः,
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

अद्रिरुज्जयंताभिधो गिरिस्तां साध्वी-शोभनशीलां दुःखार्त्तां-राजीमतीं समीरैर्वायुभिराश्वास्येवाश्वासं प्रापयित्वेव 'स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः' स्फुटितानि—विकसितानि यानि कुटजानि-कुटजपुष्पाणि तेषां य आमोदः-परिमलस्तेन मत्ता ये अलयो-भ्रमरास्तेषां नादैर्ध्वनिभिः स्वागतं व्याजहार—आबभाषे । कथं ? यथा भवति—'प्रीतिप्रमुखवचनं' प्रीत्या प्रमुखं मुख्यं वचनं यत्र तत्तथा, प्रीतिपेशलवचसा सुखागमनवार्त्तामपृच्छदिति भावः । यद्वा विशेषणमिदं—प्रीतेः प्रमुखं आद्यवचनं यत्तत्प्रीतिप्रमुखवचनं चेति । कथंभूतोऽद्रिः प्रीत एतत्प्रयोजनमनुष्ठास्यामीति हृष्टः । कथंभूतां तां ? पतिमनुगतां—भर्त्तारमनुप्राप्तां । कथंभूतैः समीरैः ?'शिशिरसलिलासारसारैः'शिशिरसलिलैः-शीतलजलैः कृतो य आसारो-वेगवान् वर्षस्तेन साराः-प्रधानास्तैः । किंभूतोऽद्रिः ? 'तत्पदन्यासपूतः' तस्य-श्रीनेमेः पदन्यासेन-चरणरचनया पूतः पवित्रः ॥ ४ ॥

सिद्धैः संगं समभिलषतः प्राणनाथस्य नेमेः,
सा तन्वंगी विरहविधुरा तच्छिरोधिष्ठितस्य ।
तं सम्मोहाद्द्रुतमनुनयं शैलराजं ययाचे,
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥

सा तन्वंगी राजीमती विरहविधुरा—भर्त्तृवियोगपीडिता सती प्राणनाथस्य-नेमेरनुनयं-प्रसादन द्रुत—शीघ्र सम्मोहात मनोभव—विकारोत्थ-चित्त-वैकल्यात्, शैलराज—रैवतक ययाचे-प्राथितवती । किंकुर्वतो नेमेः ? सिद्धेर्मोक्षस्य सगं—सयोग समभिलषत -अभिकाङ्क्षतः । किभूतस्य ? 'तच्छिरोधिष्ठितस्य' तस्य उज्जयतस्य शिरसि—शिखराग्रेऽधिष्ठितस्य-निषण्णस्य, ननु पर्वतस्य चेतना विकलत्वात , कथ त प्रति राजीमत्यास्तत्प्रमादनयाचा घटत ? इत्यनौचित्य चार्थान्तरन्यासेन निरस्यति—हि यस्मात्कामार्त्ताश्चेतनाचेतनेषु प्रकृतिकृपणा भवन्ति प्रकृत्या-स्वभावेन कृपणास्तद्धनानिर्बन्धपरा इत्यर्थ., अयमभिप्रायः। असौ कार्यक्षमोऽक्षमो वाऽयमिति अविचार्यैव, यथा चेतनेषु तथाऽचेतनेष्वपि प्रवर्त्तन्ते-स्वीकारपरा भवन्तीत्यर्थ । यथा कृपणो लक्षणया दरिद्र. प्रकृतौ स्वभावविषये कृपणश्चेतनाऽचेतनस्वभावपरिज्ञानविकल इत्यर्थः । कामार्त्ता इति बहुवचनं व्याप्तिसूचकं । अन्योऽपि कामार्त्त मन तथाविध एव भवति, तेन नास्य दोष इति । अर्थान्तरन्यासोपमालंकारः ॥ ५ ॥

सा तं दूना मनसिजशरै-र्यादवेशं बभाषे,
रक्षत्यार्त्तं शरणगमसौ क्षत्रियस्येति धर्म्मः ।
तन्मां स्वामिन्नवभवदधीनासुमभ्यर्थये त्वां,
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा ॥६॥

सा राजीमती मनसिजशरैर्मन्मथबाणैर्दूना-सतापिता सती, त यादवेश इति-बभाषेऽभाणीत् । इतीति किं ? शरणग—शरणप्राप्तं आर्त-पीडित रक्षति पालयति, असौ क्षत्रियस्य धर्म -क्षत्रवंशोद्भवस्यानुष्ठानं तत्तस्माद्धेतोर्भवतोऽपि क्षत्रियमौलिमौलिरत्नायमानत्वात हे स्वामिन् ' हे प्राणनाथ ' त्वा प्रार्थये-प्रार्थना करोमि । मा-अबला भवदधीनासु भवति त्वयि आधीना आयत्ता असवः -प्राणा यस्या. सा तां, त्वत्स्वीकारे एव ध्रियमाणजीविता इत्यर्थ , अत्र-रक्ष । यदि कश्चिदन्योऽपि स्वजनो मम वल्लभो भवेत्तदा तमेव नियोजयामि, पर दैवात्त्वमेव मम प्राणप्रियोऽभवस्तेन त्वां ययाचे इत्यर्थः । न चैतदयुक्तं यत -अधि-

गुणे–गुणाधिके पुंसि याञ्चा मोघापि अलब्धकामापि-निष्फलापि वर-इष्ट, अधमे नीचे लब्धकामापि–पूर्णाभिलापापि, नवर–अनुक्तोऽपि उक्तिविशेषादपि शब्द एतावदत्राक्षिप्यते, अकार प्रश्लेपोप्यत्र मन्तव्य । मोघापि अमोघापि वर लब्धकामापि अलब्धकामापि वरमिति कोऽर्थ, ? यद्यपि गुणाधिक प्रार्थितो न ददाति, तदा तस्यैव वचनीयता न याचितु, अधमात् पूर्णकामोऽपि याचको निंद्यत एव ।'वर तु घुसृणे किंचिदिष्टे' इत्यनेकार्थ. । अर्थान्तरन्यासोलंकार ॥६॥

तुंगं शृगं परिहर गिरेरेहि यावः पुरीं स्वां,
रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशांतरालम् ।
शोभासाम्यं कलयति मनागप्यलका नाथ ! यस्याः,
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या ॥७॥

हे नाथ ! गिरे –शिखरिणस्तुगं उच्चैस्तर शृग-शिखर परिहर-परित्यज तथा एहि-आगच्छ स्वा–निजां यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्ता पुरीं–नगरीं द्वारिका यावः–गच्छाव । किंभूता पुरी ? 'रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तराल' रत्न श्रेणीभी रचितानि–विनिर्मितानि यानि भवनानि-गृहाणि तैर्द्योतितानि-प्रकाशितानि आशांतरालानि–दिगन्तरालानि यया सा ता, यस्या नगर्य्या. शोभा–साम्य मनागपि, अनुक्तोप्यपि शब्दोत्राऽऽक्षिप्यते । अलका-धनदनगरी न कलयति न दधाति, शोभातिशयधारित्वात् तस्या । कथभूता अलका ? 'बाह्योद्यान-स्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या' बाह्ये उद्यानं बाह्योद्यानं, तत्र स्थितो योऽसौ हरस्तस्य शिरो मस्तकं तत्र या चन्द्रिका तया धौतानि–धवलीकृतानि हर्म्याणि गृहाणि यस्या सा ॥ ७ ॥

आलोक्यैनं तरलतडिताऽऽक्रान्तनीलाब्दमालं,
प्रावृट्कालं विततविकसद्यूथिकाजातिजालम् ।
अंतर्जाग्रद्विरहदहनो जीविताऽलंबनेऽलं,
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

हे नाथ! एनं प्रावृट्कालं-वर्षाकालमालोक्य-दृष्ट्वा अहमिवमद्वदन्योऽपि 'अपि शब्दः संभावनायां' यो जनः पराधीनवृत्तिर्दैवपरतन्त्रो भवेत्, स जीविताऽऽलम्बने प्राणधारणे नालं न समर्थः स्यात्? । श्रावणे हि सजलजलदारवभैरवत्वात् विरहिणीनां जीवितं संशयतुलामधिरोहतीतिभावः । किंभूतो जनः? 'अतर्जाग्रद्विरहदहनः' अतर्भित्ते जाग्रत्-परिस्फुरन् विरह एव दहनोऽग्निर्यस्य सः । किंभूतं वर्षाकालं? 'तरलतडिताक्रान्तनीलाब्दमालं' तरला चंचला या तडिद्विद्युत्तया आक्रान्ता-आश्लिष्टा नीलाब्दमाला-कृष्णमेघश्रेणिर्यस्मिन्स तं । पुनः किंभूतं? 'विततविकसद्यूथिकाजातिजालं' वितता-विस्तीर्णा विकसन्त्यो च यूथिका-मागधीपुष्पाणि जातयश्च मालतीपुष्पाणि तासां जालं-समूहो यस्मिन्स तं, यूथिकाजातयश्च, वर्षास्वेव पुष्प्यन्तीति भावः ॥ ८ ॥

अस्मादद्रेः प्रसरति मरुत्प्रेरितः प्रौढनादै-
र्भिन्दानोऽयं विरहिजनताकर्णमूलं पयोदः ।
यं दृष्ट्वैताः पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाऽऽभाः,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥९॥

हे नाथ! अस्मादद्रेर्गिरेरयं पयोदो-मेघः मरुत्प्रेरितो-वायुचलितः प्रसरति-प्रवर्तते किं कुर्वाणः? प्रौढनादैः-प्रचण्डस्तनितैर्विरहिजनताकर्णमूलं विरहिजनता-वियोगिलोकसमूहस्तस्याः कर्णमूलं-श्रोत्रसामीप्यं भिन्दानः विदारयन् । अयमिति कः? यं मेघं दृष्ट्वा एता बलाकाः-बकाङ्गनाविशेषाः खे-आकाशे भवन्तं-त्वां सेविष्यन्ते-भजिष्यन्ति । भवतोऽपि नीलवर्णत्वात् तत्तुल्यत्वेति भावः । किंभूतं भवन्तं? नयनसुभगं-लोचनाभिरामं । किंभूता बलाकाः? 'पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाभाः' पथिकवदनाम्भोजेषु-पान्थमुखाब्जेषु चन्द्रातप इव कौमुदीवत् आभान्तीति यास्ताश्चन्द्रातपरूपे बलाकादर्शनाद्विरहिजनमुखाम्भोजानि म्लायन्तीति भावः ॥ ९ ॥

वीक्ष्याकाशं नवजलभरश्याममुद्दामकामा-
विर्भावेन व्यथितवपुषो योषितो विह्वलायाः ।

काले कोऽस्मिन् वद यदुपते ! जीवितेशादृतेऽन्यः,
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

हे यदुपते ! श्रीनेम ! त्वं वद-ब्रूहि । विह्वलाया-विरहेण विक्लवाया योषितो मम राजीमत्या ,अस्मिन्काले-वर्षासमये जीवितेशाद्भर्तुः ऋते विना कोऽन्य विप्रयोगे सति प्राणनाथवियोगे सति सद्य पाति-तत्कालपतनशीलं हृदय रुणद्धि-विरहदु खितमरणाध्यवसायान्निवारयति । किंभूत हृदयं ? प्रणयि स्नेहल, अन्यदपि एतत् रज्ज्वादियन्धेन धार्यते इत्युक्तिलेश,। यत एव प्रणयि तत एव सद्य पाति प्रणयाभावात् प्राय कठिनहृदयाः स्त्रियो भवन्ति। किंभूताया योषित. ? नवजलधरश्याम -नूतनमेघकृष्णं-आकाश-नभो वीक्ष्य उद्दामकामाविर्भावेनोत्कटमनोभवोल्लासेन 'व्यथितवपुष 'व्यथित-पीडितं वपु -शरीर यस्या. सा तस्या ॥१०॥

शैलप्रस्थे जलदतमसाऽऽच्छादिताशाम्बरेण,
स्निग्धश्यामाञ्जनचयरुचाऽऽसादिताभिन्नभावाः ।
यामिन्योमूर्विहितवसतेर्वासरा चाजनेऽस्मिन् ,
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥

हे नाथ ! अस्मिन् अजने-जनविरहिते शैलप्रस्थे-उज्जयन्ताद्रिशिखरिणि विहितवसते -कृतनिवासस्य भवतस्तव नभसि-श्रावणे मासि अमूर्यामिन्यो-रात्रय. वासराश्च-दिनानि जलदतमसा-मेघान्धकारेण आसादिताभिन्नभावाः-प्राप्तैकत्वभावा संपत्स्यन्ते भविष्यन्ति,रात्रेरह्नोवा विशेषपरिज्ञानं न भविष्यतीत्यर्थ । किंभूतेन जलदतमसा?'आच्छादित'शाम्बरेण' आच्छादिते-आवृते आशाम्बरे-दिगाकाशे येन तत्तेन । पुन किंभूतेन ?'स्निग्धश्यामाञ्जनचयरुचा' स्निग्धो-रूक्ष श्यामो-योऽञ्जनचय कज्जलजाल तद्वद् रुक्कान्तिर्यस्य तत्तेन । अनुक्तोपि च शब्दोत्राऽऽक्षिप्यते, च पुन, राजहंसा -हंसविशेषा भवतः सहाया अनुचरा संपत्स्यन्ते ॥११॥

तन्मत्त्वैवं व्रज निजपुरीं द्वारिकां सत्सहायै-
र्गोविंदाद्यैः सममनुभवासाद्य राज्यं सुखानि ।

जाते तेषां यदुवर ! पुनः संङ्गमे भाविनी ते,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥१२॥

हे नाथ ! तत्तस्माद्धेतोरेवं मत्वा-मद्वचन मनस्यवधार्य्य निजपुरीं-स्वीयनगरीं द्वारिका व्रज-गच्छ । तत्र सत्सहायै -सन्तो विद्यमाना सहाया अनुचरा येषा ते, तै सत्सहायैर्गोविंदाद्यैर्विष्णुप्रमुखै समं-सार्द्धं राज्यमासाद्य-प्राप्य सुखानि-विषयसौख्यान्यनुभव-आस्वादय । हे यदुवर ! तेषा गोविन्दादीना सङ्गमे सयोगे जाते, ते-तव पुनर्भूय.स्नेहव्यक्तिर्भाविनी । किंकुर्वतस्तव चिरविरहजं-बहुकालवियोगसमुत्थं उष्णं बाष्प मुञ्चत । अन्योऽपि यश्चिरविरहदु खितो भवति । स तत्संगे सति उष्णां बाष्प मुञ्चति । स्वजनस्य चाग्रतो दु ख विवृतद्वारमिव जायते । एतदेव सखित्वं यच्चिरेण सुहृद्दृष्टेन बाष्पाविर्भावो जायते ॥ १२ ॥

वन्याहारा धृतमुनिजनाऽऽचारसाराः सदारा
यां नाथान्तेवयसि सुधियः क्षत्रियाः संश्रयन्ते ।
किं तारुण्ये गिरिवनभुव सेवसे तां तपोभिः,
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥१३॥

हे नाथ ! या गिरिवनभुव-उज्जयन्तकाननवसुधा सुधिय -परिणतबुद्धय क्षत्रिया अन्तेवयसि-वृद्धावस्थाया सश्रयन्ते-भजन्ते । क्षत्रियाःकिंभूता. सत ? 'वन्याहाराः' वने साधवो वन्या-व्रीह्यादयस्तेषामाहारो-भक्षणं येषा ते वन्याहारा । पुन किंभूता संत ? 'धृतमुनिजनाचारसारा ' धृतोङ्गीकृतो यो मुनिजनाना आचारः-क्रियाविशेषस्तेन सारा -प्रधाना. । पुन किंभूताः सतः ? सदाराः-सकलत्रा. ततस्तारुण्ये-यौवने वयसि हे नाथ ! तपोभि क्षीण क्षीणः-क्षामः क्षामः सन् स्रोतसा-निर्झराणा नदीना वा पय उपभुज्य च पीत्वा । 'किमित्याक्षेपे' ता गिरिवनभुव सेवसे, एतद्वयस्येतत्कर्मणोऽनुचितत्वात् । कीदृश पय ? परिलघु निर्मलत्वाल्लाघवोपेत न दुर्जरमित्यर्थः । वन्येत्यत्र साध्वर्थे यत्, भवार्थे तु वन-शब्दस्य नद्यादौ पठितत्वात् ढक् स्यात्, तथा च वानेयेति रूप स्यात् । यद्वा तत्तस्मिन्नर्थे दिगादित्वात् यत् । 'वन्य वनभवे वन्यो, वनवारिस-

मृहयोः " इति विश्वप्रामाण्याच्च ॥ १३ ॥

काऽत्र प्रीतिस्तव नगवने चारुतद्द्वारिकाया-
स्त्यक्त्वोद्यानं युवयदुजनोन्मादि यत्रासुरारिः ।
निर्जित्येन्द्रं ससुरमनयत्पारिजातं द्युलोकाद्,
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

हे नाथ ! द्वारिकायाश्चारु-मनोहरं तत् उद्यानं त्यक्त्वा अत्र नगवने-गिरिविपिने तव का प्रीति ? क आनन्द ? येनात्र निवससीति । किंभूतमुद्यानं ? 'युवयदुजनोन्मादि' युवानस्तरुणा ये यदुजनास्तानुन्मादयतीति यत्तत्तथा । कुत्रचित् 'युवयदुमनोन्मादीति' पाठस्तत्र मनशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्तीति 'अवचूर्णौ' । तदिति किं ? यत्रोद्याने असुरारिर्गोविन्द ससुरममरसहितमिन्द्रं-शक्रं निर्जित्य द्युलोकात्-स्वर्लोकात्पारिजातं-कल्पवृक्षमनयत्प्रापयत् । असुरारि किंकुर्वन् ? पथि मार्गे दिङ्नागाना-दिग्गजानां स्थूलहस्तावलेपान्-पीवरशुण्डादण्डप्रहारान् पीवरहस्तमस्पर्शानिति 'वृत्त्यन्तरे' परिहरन्-परित्यजन् ॥ १४ ॥

यत्प्रागासीदमलविलसद्भूषणाभाभिरामं,
भात्यारोहन्नवघनजलोद्भिन्नवल्लीचयेन ।
तत्ते नीलोपलतटविभाभिन्नभासाऽधुनाङ्गं,
वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥

हे नाथ ! ते-तव यदङ्गं-वपुः प्राक् गृहनिवासे 'अमलविलसद्भूषणाभाभिरामं' अमलानि-निर्मलानि विलसन्ति-शोभमानानि यानि भूषणानि-मौलिकुण्डलकेयूरादीनि तेषां या आभा-कान्तिस्तया अभिरामं-मनोहरमासीत् । तदङ्गं अधुना वनवासप्रस्तावे 'आरोहन्नवघनजलोद्भिन्नवल्लीचयेन' आरोहन्-ऊर्ध्वमाक्रामन् नवघनजलोद्भिन्नो-नूतनमेघपानीयप्ररूढो यो वल्लीचयो-वीरुत्समूहस्तेन भाति-शोभते । निःसङ्गत्वात् परितो वपुर्वेष्टयन्त्योऽपि वीरुल्लता ना-

पनीयन्त इत्यर्थः । किंभूतेन ? 'नीलोपलतटविभामिश्रभासा' नीलोपला-नील-मणायस्तैर्विभूषितं यत्तटं तस्य विभा-कान्तिस्तया मिश्रा-आश्लिष्टा भा यस्य स तेन । कस्येव ? विष्णोरिव-श्रीवासुदेवस्येव । कथंभूतस्य ? गोपवेषस्य-गोपाल-वेषधारिणः । केन ? बर्हेण-मयूरपिच्छेन । किंभूतेन ? स्फुरितरुचिना-उल्ल-सितकान्तिना, यथा गोपवेषस्य-विष्णोः श्यामं वपुर्बर्हेण शोभते, तथा सम्प्रति तवाप्यङ्गं आरोहद् व्रतति-जालेन राजते ॥ १५ ॥

रम्या हर्म्यैः क्व तव नगरी दुर्गशृङ्गः क्व चाद्रिः,
क्वैतत्काम्यं तव मृदुवपुः क्व व्रतं दुःखचर्य्यम् ।
चित्तग्राह्यं हितमितिवचो मन्यसे चेन्ममालं,
किंचित् पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥

हे नाथ ! हर्म्यैर्धनिनां गृहै रम्या-मनोहरा तव नगरी द्वारिका क्व ? पुनरद्रिरुज्जयन्तः क्व ? क्वेति महत्यंतरे । किंभूतोद्रि ? 'दुर्गशृङ्गः' दुर्गा-ण्यतिविषमाणि शृङ्गाणि-कूटानि यस्य स । तथा तव एतत्काम्य च कन्त्रं मृदु-सुकुमारं वपुः-शरीरं क्व ? । एतद् दुःखचर्य्यं-दुःखेन चर्यतेऽनुपाल्यत इति दुःखचर्यं, दुःखानुष्ठेयं व्रत क्व ? । हे नाथ ! इति पूर्वोक्त चित्तग्राह्यं-मनोभिलषणीय हित आयत्युपकारक मम चेद्वच किंचिन्मनाक् मन्यसे-चेतस्यालोचयसि, तर्हि भूय पुनर्लघुगति शीघ्रगमन सन्, पश्चाद् द्वारिकायामेव व्रज-गच्छ । उत्तरेण-प्रतिवचनेन अल-पर्याप्त तूष्णीं तत्रैवेहीति भावः ॥ १६ ॥

कुर्वन् पान्थांस्त्वरितहृदयान् संगमायाङ्गनाना-
मेनं पश्याधिगतसमयः स्वं वयस्यं मयूरम् ।
जीमूतोऽयं मदयति विभो ! कोऽथ वाऽन्योऽपि काले,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥

हे विभो ! त्व पश्य, अयं जीमूतो-मेघ एनं-प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणं स्वं-निज वयस्यं, मित्र-मयूर मदयति-प्रमोदयति । किंभूतस्त्व ? 'अधिगतसमयः'

अविगत.-परिज्ञातः समय'-प्रस्तावो येन स, प्रस्तावविज्ञ इत्यर्थ । तथा जीमूत. किकुर्वन् ? पान्थान-पथिकान अङ्गनाना-रमणीना संगमाय-सयोगाय त्वरितहृदयान-उत्सुकमनस' कुर्वन्-विदधत् । अथवा युक्तमेतत्, कः अन्योपि नीचोपि काले-अवसरे मित्रे-प्राप्ते सति विमुख -पराङ्मुखो भवति-जायते । किपुनर्यस्तथा तेन प्रकारेण उच्चैर्महात्मा भवति तस्य किंभण्यते ? अतोऽय-मपि महत्वात् स्वमित्रं मयूर मदयतीति भाव· ॥ १७ ॥

पूर्वं येन त्वमसि वयसा भूषितोऽङ्गे समग्रे,
तैस्तैः क्रीडारससुखसखैर्भव्यभोगैरिदानीम् ।
तत्तारुण्यं सफलय पुरीं द्वारिकामेत्य-शीघ्रं,
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१८

हे नाथ ! येन वयमा त्वं पूर्वं समग्रे अगे भूषितो-मंडित असि । तत्ता-रुण्य-यौवनं वयः इदानीं तैस्तैरेतद्वयसोपभोग्यैर्भव्यभोगै'-प्रधानविषयवि-लासै सफलय कृतार्थय । किंभूतैः ? 'क्रीडारससुखसखैः' क्रीडारसस्य-केलि-रागस्य यत्सुखं तन्सखैस्तत्सहायै । किकृत्वा ? शीघ्रं द्वारिका-पुरीमेत्य-आगत्य । किंभूतस्त्व ? 'सद्भावार्द्रः' स्वभावेन सकरुण , यत कारणात महतां विषये उपकारः न चिरेण फलति ? अपितु तत्कालमेव फलति ॥ १८ ॥

किं शैलेऽस्मिन् भवति वसतो न व्यथा कापि चित्ते,
संत्यज्य स्वां पुरमनुपमां श्रोतते नाथ ! यस्याः ।
रत्नसौधैरसितमणिमयाग्रेण हैमोऽग्रवप्रो,
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१९॥

हे नाथ ! यगद्योर्नित्यमम्बन्धात्ता अनुपमा-अनन्यसदृशा स्वा पुर सत्यज्य अ-स्मिन्शैले रैवतकाख्ये वसतस्तव किं चित्ते कापि व्यथा पीडा न भवति-न जायते ? । यस्या द्वारिकाया 'असितमणिमयाग्रेण' असितमणिमयानि-नीलमणिप्रधानान्यग्राणि यस्य तादृशेन रत्नसौधेन रत्नमन्दिरेण, 'हैम ' हिमस्य-तुषारस्यायं विकारो हैम ,

अग्रवप्रो-अग्रप्राकार.। उत्प्रेक्ष्यते भुव -पृथिव्याः स्तन इव। किंभूत. स्तनः ? मध्ये-श्यामः-अन्तर्नीलवर्ण । पुनःकिंभूतः ? शेषविस्तारपाण्डुः-परित आभोगपाण्डुः। किल स्तनो हि मध्ये श्याम.शेषविस्तारपाण्डुर्भवति, तथाऽत्रापि त्वदीय नीघमतः श्याम परितो हैमवप्रः, शेषविस्तारपाण्डुरिति ॥ १६ ॥

यामालोक्य स्वगृहगमनायोत्सुकाः स्युस्त्वदन्ये,
पश्याऽऽकाशे जलदपटलेऽस्मिन्बलाकावलीन्ताम् ।
अन्तर्विद्युत्स्फुरितरुचिरे सुप्रकाशेन्द्रचापे,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ २० ॥

हे नाथ ! अस्मिन् जलदपटले-मेघमालाया ता बलाकावली-बकपङ्क्तिं पश्य-वीक्षस्व । तामिति का ? या बलाकावलीं आलोक्य त्वदन्ये-त्वद्भवतोऽन्ये त्वदन्ये स्वगृहगमनाय-निजमदिरप्राप्त्यर्थमुत्सुका स्युर्भवन्ति । एकस्त्वमेव स्वगृहगमनायोत्सुको नास्ति, परमन्ये सर्वेप्युत्सुका भवन्तीत्यर्थः। किंभूते जलदपटले ? 'अन्तर्विद्युत्स्फुरितरुचिरे' अन्तर्मध्ये यद्विद्युत्स्फुरित तेन रुचिरे-प्रधाने । पुनः किंभूते ? 'सुप्रकाशेन्द्रचापे' सुप्रकाशः-शोभनप्रकाश इन्द्रचाप-इन्द्रधनुर्यस्मिन् तत्तस्मिन् बलाकावलीं,कामिव उत्प्रेक्ष्यते ? गजस्याङ्गे भक्तिच्छेदैः -विच्छित्तिविभागैर्नागबंधादिचित्रविशेषैर्विरचिता भूतिमिव-भस्मेव । अत्र जलदपटलस्य गजोपमाबलाकावल्याभूतिसमानतेति भावार्थः ॥ २० ॥

युक्तं लक्ष्म्यामुदितमनसो यादवेशाः सभाया-
मासीनं यं निजपुरि चिरं त्वामसेवन्त पूर्वम् ।
सम्प्रत्येकः श्रयसि स नगं नाथ ! किं वेत्सि नैवं,
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २१ ॥

हे नाथ ! यं त्वा राज्यश्रिया-राज्यलक्ष्म्या युक्तं-सहित निजपुरि-द्वारिकाया सभायामासीन सन्त । पूर्वं यादवेशाः-विष्णुबलभद्रादयः असेवन्त-अभजन्त । किंभूतास्ते ? मुदितमनसः-हृष्टहृदयाः । सम्प्रत्यधुना स त्वं हे नाथ !

एक अनुचरादिवियुक्तो नग-रैवतकशैलं श्रयसि, अतः किं नैव वेत्सि ? यत् हि-यस्मात् कारणात् सर्वोऽपि रिक्तोऽन्तः-साररहितो लघुरल्पतुलनो भवति, पूर्णता गौरवाय कल्प्यते । अत्र प्रस्तुतार्थमाश्रित्य सर्वोऽपि हि रिक्तो-निर्द्रव्यो लघुर्विमानतास्पदं भवति । पूर्णता-विभववत्ता हि गौरवाय मान्यता हेतुरिति ॥२१॥

मुक्तातङ्कास्तव यदुविभो ! जिह्वयाङ्गं लिहन्तः,
संक्रीडन्ते शिशव इव येऽङ्के समाधिस्थितस्य ।
संप्रत्येते पुरमभियतो विप्रयोगेण नेत्रैः,
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २२ ॥

हे यदुविभो ! श्रीनेमे ! तवाङ्क-उत्सगे ये सारगा-मृगा शिशव इव-स्तनधया इव सक्रीडन्ते-रमन्ते । किंभूताः सारगाः ? मुक्तातंकाः-परित्यक्तभया अवधकत्वात्तवेति । पुनः किभूताः ? जिह्वया तवाङ्गं वपुर्लिहन्त -आस्वादयन्त । किंभूतस्य भवत ? 'समाधिस्थितस्य' समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तस्मिन् स्थितः समाधिस्थितस्तस्य, सप्रति-अधुना अन्त.पुर-शुद्धान्त अभियतो-द्वारिकाया अभिमुख गच्छतस्तव-ते सारगा मार्गं सूचयिष्यन्ति-परस्पर कथयिष्यन्ति । अनेन पथा श्रीनेमिरस्माक विश्रम्भास्पदं प्रस्थित., परमस्माभिर्भाग्यहीनैर्न दृष्ट इति । किंभूतास्ते ? विप्रयोगेण-त्वद्विरहेण नेत्रैर्लोचनैर्जललवमुच -अश्रुबिंदुवर्षिण तद्रोदनादेव त्वद्गमनमार्गावगमो भविष्यतीति भावः ॥२२॥

एतत्तुङ्गं त्यज शिखरिणः शृङ्गमङ्गीकुरु स्वं,
राज्यं प्राज्यं प्रणयमखिलं पालयन् बन्धुवर्गम् ।
रम्ये हर्म्ये चिरमनुभव प्राप्यभोगानखंडान्,
सोत्कण्ठानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥ २३ ॥

हे नाथ ! त्व एतत्तुङ्ग-उच्चैस्तर शिखरिणो-गिरेः शृङ्ग-शिखर त्यज । स्वं-निज प्राज्यं-प्रभूत गजाश्वादिभिर्बहुल राज्यमंगीकुरु-स्वायत्तीकुरु । किंकुर्वन् ? प्रणयं-प्रणयतीति प्रणय "पचादित्वादच्" अखिल-समस्तं बधु-

वर्ग–स्वजनसमुदायं पालयन् । तथा तत्र चिर–चिरकाल रम्ये–साधुनि हर्म्ये–मंदिरे अखण्डान-अन्यूनान् भोगान् प्राप्य सोत्कण्ठानि–उत्कण्ठयुक्तानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि–अनुभवप्रिया वल्लभाः याः सहचर्य्यस्तासां सम्भ्रमेण-राभस्येन यान्यालिंगितानि तानि उपभुज्व । तत्र सुखेन त्वं तिष्ठेत्यर्थः ॥ २३ ॥

धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः पान्थसार्थान्,
ये कुर्वीरन् जलदमरुतो वेश्मसंदर्शनोत्कान् ।
तैः संस्पृष्टो विरहिहृदयोन्माथिभिः स्वां पुरीं न,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गंतुमाशु व्यवस्येत् ॥२४॥

हे नाथ ! ये जलदमरुतो-मेघवायव पांथसार्थान्-पथिकसमूहान् वेश्मसंदर्शनोत्कान्–गृहालोकनोत्सुकान् कुर्वीरन् । किंभूता जलदमरुतः [2] 'धूतानिद्रार्जुनपरिमलोद्गारिणः' धूता.–कंपिता अनिद्राः-प्रफुल्ला ये अर्जुना-अर्जुनतरवस्तेषां परिमलमुद्गिरतीत्येवशीला धूतानिद्रार्जुनपरिमलोद्गारिणः तैरेव वायुभिः संस्पृष्ट आश्लिष्टो भवान्-त्वं आशु-शीघ्रं कथमपि महता कष्टेन स्वां पुरीं द्वारिकां प्रत्युद्यात –कृताभ्युत्थान. सन्, गन्तुं न व्यवस्येत्–न व्यवसायं विदध्यात् [2] अपितु कुर्यादेव । किंभूतैस्तैः [2] 'विरहिहृदयोन्माथिभि ' विरहिहृदयानि-वियोगि चेतांसि उन्मथ्नंतीत्येवंशीला विरहिहृदयोन्माथिनस्तैः ॥२४॥

नोत्साहस्ते स्वपुरगमने चेद्विमुक्ता त्वयाऽहं,
वृद्धावेतौ तव च पितरौ तज्जनास्ते त्रयोऽमी ।
म्लानास्याब्जाः कलुषतनवो ग्रीष्मतोयाशयाभाः,
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ २५ ॥

हे नाथ ! स्वपुरगमने चेद्यदि ते-तव नोत्साहो-नोत्कण्ठा, तदा अहं राजीमती च पुनरेतौ वृद्धौ स्थविरौ पितरौ–शिवासमुद्रविजयाभिधौ तज्जनास्तयोः पित्रोर्जनाः सेवकलोकास्तेऽमी त्रयस्त्वया श्रीनेमिना वियुक्ता-वियोगिन संतो ग्रीष्मतोयाशयाभा –निदाघजलाश्रयाभाः संपत्स्यन्ते–भविष्यन्ति । किंभूतास्ते

त्रय ? 'म्लानाब्जास्या' म्लानानि-संकोचमासादितानि अब्जानीव आस्यानि-मुखानि येषां ते। ग्रीष्मतोयाशयपक्षे तु-म्लानान्यब्जान्येवास्यानि येषां त इति। पुनः कथंभूता ? कलुषतनव –कलुषास्त्वद्वियोगेन स्नानाद्यकरणान्मलिनास्तनव शरीराणि येषां ते। ग्रीष्मे जलाशया अपि जलशोषात् कलुषास्तनवश्चापृथुला एव भवन्तीति। पुन किंभूता ? कतिपयदिनस्थायिहंसाः-कतिपयदिनस्थायिनो हंसा–आत्मानो येषां ते, त्वद्विरहादेव। ग्रीष्मजलाशयपक्षे तु–कतिपयदिनस्थायिनो हंसा–राजहंसा यत्रेति। पुन किंभूताः ? 'दशार्णा' दशेति–दश संख्याका प्राणा ऋणं देयं येषां ते दशार्णाः, त्वद्विरहे दशापि प्राणान् त्यक्ष्यन्तीत्यर्थ। जलाशयपक्षे तु–दशार्णा दशसम्बन्धिनो दशार्णाः। इति व्याख्यालेश ॥ २५ ॥

तन्नः प्राणानव तव मतो जीवरक्षैव धर्म्मो,
वासार्थं वः सुरविरचितां तां पुरीमेहि यस्याः।
वप्रप्रान्ते स्फुरति जलधेर्हारिवेलारमण्याः,
सभ्रभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २६ ॥

हे नाथ! यत्तदोर्नित्यसंबन्धाद्यद्यस्माद्धेतोस्तव जीवरक्षैव–सकलजगज्जन्तुपालनमेव धर्म्मो मतोऽभीष्टस्तत्तस्माद्धेतोर्नः अस्माकं प्राणान्-असून अव-रक्ष। तद्रक्षणमपि द्वारिकामप्राप्तस्य भवतो न भवतीत्यत आह-ता सुरविरचिता-शक्रादेशाद्धनदनिर्म्मिता पुरीं-द्वारवतीं वासार्थं-निवासनिमित्तमेहि-आगच्छ। तामिति का ? यस्या पुर्य्या वप्रप्रान्ते–प्राकारपर्यन्ते जलधेर्लवणसमुद्रस्य पय -पानीयं स्फुरति-शोभते। पयः किमिव ? 'वेला रमण्याः' वेला-अम्भसो वृद्धिः, सैव रमणी-स्त्री तस्या उत्प्रेक्ष्यते-सभ्रभङ्गं-भ्रभङ्गसहितं मुखमिव। किंभूताया वेला रमण्याः ? वेत्रवत्या -वेत्रलता युक्ताया। किंभूतं वारि ? हारि-मनोहरं। पुनः किंभूतं ? चलोर्म्मि-चला ऊर्मयो यत्र तत्तथा ॥२६॥

अस्मादद्रेः प्रतिपथमधः संचरन् दानवारेः,
क्रीडाशैलं विमलमणिभिर्भासुरं द्रक्ष्यसि त्वम्।

अन्तःकान्तारतरसगलद्भूषणैर्यो यदूना-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २७ ॥

हे नाथ ! त्व अस्मात् रैवतकादद्रे मकाशात्प्रतिपथं-प्रतिमार्ग अभ्रः मचरन्-नीचैर्गच्छन् । दानवारेर्विष्णोर्यच्छन्दस्तच्छन्दमपेक्षत इति, त क्रीडा-शैलं-क्रीडापर्व्वत द्रक्ष्यसि-अवलोकयिष्यसि । किम्भूत क्रीडाशैलं ? विमलमणि-भिर्निर्म्मलरत्नैर्भासुर-देदीप्यमानं, यः क्रीडाशैलो यदूना-यादवाना उद्दामानि-उत्कटानि यौवनानि-तारुण्यानि शिलावेश्मभिर्पाषाणगृहै प्रथयति-विस्तारयति । किम्भूतैस्तै ? 'अन्त कान्तारतरसगलद्भूषणैः' अन्तः-शिलागृहाणा मध्ये कान्ताना-स्त्रीणा रतरसेषु-सभोगलीलासु गलंति-पतन्ति भूषणानि येषु तानि तैस्तत्रागताना वहुलः कामिना कामिन्यनुरागो जायत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्योद्याने वरतरुचिते त्वं मुहूर्त्त श्रमार्त्त-
स्तिष्ठेस्तुष्टो विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैः ।
मुष्णन्नन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारं स्मितानां,
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ २८ ॥

हेनाथ ! त्व श्रमार्त्तस्तस्य क्रीडाशैलस्योद्याने-वने मुहूर्त-क्षण याव-त्तिष्ठेः-श्रमापनोदं कुर्य्याः । किंभूते उद्याने ? 'वरतरुचिते' वरा -प्रधानाः ये तरवो-माकदशालप्रियालादयस्तैश्चित-व्याप्तं तस्मिन् । किंभूतस्त्व ? 'विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैर्विविधा-नानाप्रकारास्तदुपानीतास्ताभिः पुष्पला-वीभिरुपानीता-उपढौकिता ये पुष्पोपहाराः कुसुमोपायनानि तैस्तुष्टो-हृष्टः । पुन किंभूतः ? स्मिताना-हसिताना पुष्पलावीमुखाना-पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्य', "कर्म्मणोऽण्" अणन्तिर्ङीप्, कुसुमोच्चयकारिण्यस्तासा मुखानि पुष्पलावीमुखानि तेषा छायादानात्-शोभावितरणात् 'क्षणपरिचितः' क्षण-मुहुर्त्त यावत् साभिलाषावलोकनात् अभ्यस्तः । त्व किं कुर्वन् ? अतर्वनस्य मध्ये चिरपरिमलोद्गारसार मुष्णन्-हरन्, तत्सुरभिगन्धाघ्राणं कुर्व्वन्नि-त्यर्थः ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा रूपं तव निरुपमं तत्र पीनस्तनीनां,
तासामन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानाम् ।
कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत् सम्भ्रमोद्यद्विलासै-
र्लीलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोसि ॥२९॥

हेनाथ ! तत्र क्रीडाशैले तासां पीनस्तनीनां-पीवरपयोधराणां लोचनैः चेत्त्वं न रमसे ? तदा वञ्चितोसि-जन्मफलवन्ध्योऽसीति तात्पर्यं । किंभूतानां तासां ? तव निरुपमं-अत्यद्भुतं रूपं दृष्ट्वा 'अन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानां' अन्तश्चित्ते मनसिजस्य-कामस्य यो रसस्तस्य या उल्लासलीला तया अलसा-मन्थरा यास्तास्तासां । किंभूतैर्लोचनैः ? 'कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत्सम्भ्रमोद्यद्विलासैः' कर्णाम्भोजेषु उपगताः प्राप्ता ये मधुकृतो-भ्रमरास्तेषां सम्भ्रमो भयं तेनोद्यत-उदयं प्राप्नुवन्तो, विलासा येषु तानि तैः । पुनः किम्भूतैः-र्लीलापाङ्गैः चञ्चलनेत्रान्तैः लीलापाङ्गतया च नयनानां विशेषसौन्दर्यमाविष्कृतम् ॥२९॥

तस्मिन्नुद्यन्मनसिजरसाः प्रांशुशाखावनाम-
व्याजादाविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः ।
संधास्यन्ते त्वयि मृगदृशस्ता विचित्रान् विलासान्,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥३०॥

हेनाथ ! तस्मिन् क्रीडाशैले मृगदृशः सीमन्तिन्यस्त्वयि विचित्रान्-विविधान् विलासान्-नेत्रावलोकनविशेषान् संधास्यन्ते-संयोक्ष्यन्ते । किंभूतास्ताः ? 'उद्यन्मनसिजरसाः' उद्यन्-प्रकटीभवन् मनसिजरसः-कामरागो यासु तास्तथा । पुनः किम्भूताः ? 'प्रांशुशाखावनामव्याजात्' प्रांशवः-उच्चतरा याः शाखास्तासां योऽवनामो-नीचैर्नमनं तस्य यो व्याजो-मिषं तस्मात् । 'आविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः' आविःकृतः-प्रकाशितः कुचानां वलीनां नाभीनां काञ्चीनां च कलापो याभिस्ताः । हि-यस्मात् स्त्रीणां प्रियेषु-वल्लभेषु विभ्रमो-विलासः आद्यं प्रणयवचनं-प्रथमं प्रार्थनावाक्यं, तथा

चानेकार्थः–"प्रणय प्रेमयाच्ञयो" रिति । किल विलासिन्यस्तदनुरक्तातः करण-प्रवृत्या रतिसुरतसम्भोगाभिलाष विभ्रमैरेवाविर्भावयन्ति । न वचसा भर्तुः प्रार्थना विदधतीति भाव ॥ ३० ॥

त्वां याचेऽहं न पथि भवता क्वापि कार्यो विलम्बो,
गन्तव्यातः सपदि नगरी स्वायतः सा त्वदम्बा ।
मुक्ताहारा सजलनयना त्वद्वियोगार्त्तिदीना,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ ३१ ॥

हे नाथ ! अहं त्वा याचे–अर्थयेयम् । भवता–त्वया–पथिमार्गे क्वापि विलासगार्हे नगादौ न विलम्बो–न कालक्षेप कार्यः, अतः स्वा–स्वकीया नगरी सपदि–शीघ्र गन्तव्या । यतो–यस्माद्धेतोः सा त्वदम्बा-त्वन्माता शिवा राज्ञी येन विधिना-येनोपायेन कार्श्यं-दौर्बल्य त्यजति, त्वया स एव विधिरुपपाद्य -करणीयः। 'एवेन च अवधारणे' त्वदधीनजीवितत्वात्तस्या नान्य प्रीतिकारक इति। अतः स्वगमनेन तस्यास्तुष्टिर्विधेयेति भाव । किंभूता सा ? 'मुक्ताहारा' मुक्तस्त्य-क्तस्त्वद्विरहेण आहारो यया सा मुक्ताहारा। पुन किंभूता ? 'सजलनयना' सजले-साश्रुणी नयने-नेत्रे यस्या सा तथा । पुन. किंभूता ? 'त्वद्वियोगार्त्तिदीना' त्वद्वियोगेन-त्वद्विरहेण या आर्त्तिः-पीडा तया दीना-वैमनस्यं प्राप्ता ॥ ३१ ॥

तस्याधस्ताद्विषमपुलिनां स्वर्णरेखामतीतो,
मार्गे द्रष्टा पुरमनुपमां तां भवान् वामनस्य ।
भुक्त्वा भोगोपचयमवनिं नाकिनामागतानां,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥ ३२ ॥

हे नाथ ! भवान्–त्व तस्याद्रेरधस्तादुपत्यकाया 'विषमपुलिनां' विषम-निम्नोन्नत पुलिन-तट यस्या सा ता। स्वर्णरेखामतीतोतिक्रान्त. सन , ता-अनु-पमा गरिष्ठा वामनस्य–वामनावतारस्य हरेः पुर–नगर मार्गे द्रष्टा–द्रक्ष्यसि । उत्प्रेक्ष्यते–भोगोपचय–भोगप्रौढिमाण भुक्त्वा अवनिं–पृथ्वीमागताना नाकिना-स्वर्गिणा शेषैः स्वर्गोपभुक्तावशिष्टैः पुण्यैर्हृतमानीत दिव –स्वर्गस्य कान्ति–

मत्कान्तियुक्तं एकमुत्कृष्टं खण्डमिव । तथाविधाद्भुतसमृद्धिमतीं तामवलोक्य लोकैर्भूलोकपुरीयं न भवति, किन्तु स्वर्गविभाग एव, भाग्यैर्भुव प्राप्त इत्युत्प्रेक्षत इति । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३२ ॥

यस्यां सान्द्रानुपवनलतावेश्मसु स्वेदबिन्दून्,
मुष्णन्नंगात्सुरतजनितानुज्जयन्तीं विगाह्य ।
कुर्वन्तीरे विगलितपटाः सेवते वारनारीः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारी ॥ ३३ ॥

हे नाथ ! यस्या नगर्यां शिप्रावातः-शिप्रावन्तीनिकटतटिनी तस्या म्रा(?)–वायुर्वारनारीर्वेश्याः सेवते । किङ्कृत्वा ? उज्जयन्तीं विगाह्य-अवती- र्गाह्य-प्राप्येत्यर्थः । किङ्कुर्वन् ? 'उपवनलतावेश्मसु' वनानामुपसमीपे इति पवन, उपवनं यानि लतावेश्मानि वीरुद्गृहा उपवनलतावेश्मानि तेषु, अगा- च्छरीरात् सान्द्रान्–घनान् सुरतजनितान्–सम्भोगोत्पादितान् स्वेदबिन्दून्- शरीरस्वेदजलकणान् मुष्णन्–हरन् अपनयन्नित्यर्थः । शिप्रावातः किङ्कुर्वन् ? वारनारीर्विगलितपटाः कुर्वन्-अपनीतवसना विदधत् । क इव ? प्रियतम इव । यथा कश्चित् प्रियतम कस्याश्चिन्नायिकाया. सुरतग्लानिं हरति कामुकत्वाच्च तस्या वासास्यपनयति । तथायमपीति । किंभूतः शिप्रावातः ? प्रियतम अङ्गा- नुकूल , पुटपुटिकादानेन प्रियाशरीरावयवसुखप्रदः । किंभूतः प्रियतमः ? प्रार्थ- नाचाटुकारी' प्रार्थनया चाटुकरोति प्रार्थनाचाटुकारी ॥ ३३ ॥

यत्र स्तम्भान्मरकतमयान्देहलीं विद्रुमाणां,
प्रासादाग्रं विविधमणिभिर्निर्मितं वामनस्य ।
भूमिं मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकां चापि दृष्ट्वा,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ ३४ ॥

हे नाथ ! यत्र यस्या पुर्यां मरकतमयान्हरिन्मणिप्रधानान्स्तम्भान् चापी- [illegible]

मिर्नानारत्नैर्निर्मितं वामनस्य-विष्णोः प्रासादाग्रं च-भूपमन्दिरशिखरं, तथा मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिका-मौक्तिकनिकरविरचितस्वस्तिका भूमि-पृथ्वी चापि दृष्ट्वा सलिलनिधयः-समुद्रास्तोयमात्रावशेषा सलक्ष्यन्ते-निश्चीयन्ते। सर्व्व-मणिमौक्तिकादीनां तद्गृहोपयोगाय प्रवर्त्तितत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अत्रात्युग्रैः किल मुनिवरो वामनः प्राक्तपोभि-
र्लब्ध्वा सिद्धिं सकलभुवनव्यापिना विग्रहेण।
ईशं वासं भुजगसदने प्रापयद्दानवाना-
मित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३५॥

हे नाथ! यत्र नगर्यां अभिज्ञश्चतुरो जनो-लोकः आगन्तून्-बहिर्देशादागतान् प्राघूर्णकान् बन्धून्-स्वजनान् इत्यमुना प्रकारेण रमयति-विनोदयति। इतीति कथं? किलेति सत्ये, अत्र पुरे वामनो-वामनाकृतिर्मुनिवर अत्युग्र-अत्युत्कटैः प्राक्तपोभिः सिद्धिं लब्ध्वा-प्राप्य निखिलभुवनव्यापिना-समस्तत्रिलोकीप्रसरणशीलेन विग्रहेण-वपुषा दानवानां-दैत्यानां ईशं-स्वामिनं बलिं भुजगसदने-पाताले वासं-निवासं प्रापयत्-अनयत्। इत्येवमागन्तून्जनो रमयतीति ॥ ३५ ॥

तामासाद्य प्रवरनगरीं विश्रुतां सन्निवासं,
कुर्याः पौरैर्नृवर! विहितानेकपूजोपहारः।
आस्तीर्णान्तर्विमलशयनेष्वग्रसौधेषु कामं,
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३६ ॥

हे नृवर! श्रीनेमे! त्वं तां पूर्वोक्तां विश्रुतां-विख्यातां प्रवरनगरीं-प्रधानपुरीमासाद्य-प्राप्य सन्निवासं कुर्य्याः। किंकृत्वा? 'आस्तीर्णान्तरविमलशयनेषु' आस्तीर्णानि-वासोभिः सञ्छन्नानि अन्तर्मध्ये विमलानि शयनानि-शय्या येषु तानि तेषु। अग्रसौधेषु-प्रकृष्टसप्तभूमिधवलगृहेषु कामं-स्वेच्छया खेदं नीत्वा-अपनीय। किंभूतेष्वग्रसौधेषु? 'ललितवनितापादरागाङ्कितेषु' ललितानि-विला-

स्याङ्किता या वनितास्तासां ये पादरागाश्चरणालक्तकास्तैरङ्कितानि यानि तानि तेषु, वात्स्यायनप्रणीतचतुरशीतिकरणाकरणाधिष्ठितनवनिधुवनविलासलालसविला-सिनी जनचरणालक्तककलाञ्छितेषु । किम्भूतस्त्वं ? पौरैर्नागरिकैर्विहितानेकपूजो-पहार विहितः-कृतः पूजोपहार -वस्त्रादिदानोपचारो यस्मै स तथा ॥ ३६ ॥

उद्यानानामुपतटभुवामुज्जयन्त्याः समंता-
दातन्वद्भिर्विपुलविगलन्मालतीजालकानि ।
अङ्गान्मार्गश्रमजलकणान्सेव्यसेऽस्यां हरद्भि-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ३७॥

हे नाथ ! त्वं अस्यां पुर्या उज्जयन्त्याम्-अवन्त्यां 'उपतटभुवां' तटस्य शिप्रा तटिनी सबंधिन उपसमीपे इति उपतटं, तत्र भूरुत्पत्तिर्येषां तानि तेषा-मुद्यानानां राजान्त पुरक्रीडार्हाणां वनानां मरुद्भिर्वायुभिः समतादतिशयेन सेव्यसे भज्यसे । किंकुर्वद्भिर्मरुद्भिर्विपुलविगलन्मालतीजालकानि विपुलानि-विस्तीर्णानि विगलन्ति मकरन्द क्षरन्ति, यानि मालतीनां जालकानि-नवकलिका-वृन्दानि तानि, आतन्वद्भिर्विस्तारयद्भिः । पुनः किंकुर्वद्भिः ? अङ्गात्-देहात् मार्गश्रमजलकणान्-वर्त्मखेदोत्पन्नपरिस्वेदबिन्दून् हरद्भिरपनयद्भिः । किंभूतै-स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः तोयक्रीडायां-पानीयकेलौ निरता-आसक्ता या युवतयस्तासां, यानि स्नानानि-स्नानीयचूर्णानि तैस्तिक्ताः-सुरभयस्तैः । तथा चानेकार्थः-" स्नानमाप्लवे स्नानीये च " ॥ ३७ ॥

तत्रोपास्यः प्रथितमहिमा नाथ ! देवस्त्वयाद्यः
प्रासादस्थः क्षणमनुपमं यन्निरीक्ष्य त्वमक्ष्णोः ।
शृण्वन्प्रेक्षा मुरजनिनदान्वारिवाहस्य तुल्या-
नामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ ३८॥

हे नाथ ! त्वया तत्र पुर्यां प्रासादस्थो-देवगृहावस्थित यस्तदोर्नित्य-योगात् स आद्यो देव -श्रीऋषभजिन उपास्यः-सेव्यः । किंभूतो देव ? 'प्रथि-

तमहिमा' प्रथितो-विख्यातो महिमा—माहात्म्यं यस्येति । स इति क ? य चिनं क्षण यावत्त्वं निरीक्ष्यावलोक्य अक्ष्णोश्चक्षुषो अविकलं—समस्तफलं लप्स्यसे—प्राप्स्यसि । गीतवाद्यानामनन्तपुण्यहेतुत्वात् । किंकुर्वन् ? 'पूजामुरजनिनदान्' पूजार्थं ये मुरजनिनदा-मृदङ्गध्वनयस्तान् शृण्वन—श्रवणविषयी कुर्वन् । किम्भूतास्तान् ? वारिवाहस्य-मेघस्यामन्द्राणामासमंताद् गम्भीराणा-गर्जितानां तुल्यान्-सदृशान ॥ ३८ ॥

त्वद्रूपेणापहृतमनसो विस्मयात्पौरनार्यः,
सौन्दर्याधःकृत-मनसिजे राजमार्गं प्रयाति ।
प्रातस्तस्यां कुवलयदलश्यामलाङ्गे सलीला,
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३९॥

हे नाथ ! तस्या पुर्य्या प्रातः-प्रभाते त्वयि राजमार्गं प्रयाति-गच्छति सति विस्मयादाश्चर्येण पौरनार्य्य पौरस्त्रिय कटाक्षान् नामोक्ष्यन्ते ? अपितुमोक्ष्यन्ते । किम्भूतान कटाक्षान ? मधुकरश्रेणिदीर्घान—भ्रमरपङ्क्तिवद्गुरुतरान् । किम्भूते ? त्वयि 'सौन्दर्य्याध कृतमनसिजे' सौन्दर्येण-शरीरसौभाग्येन अध-कृतस्तिरस्कृतो मनसिज -कामो येन स तस्मिन् । पुनः किम्भूते ? 'कुवलयदलश्यामलाङ्गे' कुवलयदलवत्—नीलाम्भोजपत्रवत् श्याम-नीलवर्णमंग—वपुर्यस्य स तस्मिन् । किम्भूता पौरनार्य्यः ? त्वद्रूपेण-त्वदीयरूपेण अपहृतमनस -अपहृतं मनो यासा तास्तथा । पुन. किम्भूता ? सलीला -लीलया सहिता. ॥ ३९ ॥

तस्याः पश्यन् वरगृहतर्तिं तां व्रजेर्या स्पृशन्ती-
मैक्यं प्राप्यासितरजनिषु प्रस्फुरद्रत्नदीपाः ।
प्रद्योतन्ते निहततिमिरव्योममार्गश्च लोकैः,
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥४०॥

हे नाथ ! त्व तस्या नगर्यास्ता वरगृहततिं—प्रधानमन्दिरश्रेणिं पश्यन्-अवलोकयन व्रजेर्गच्छेः । किम्भूतस्त्व ? 'भवान्' भातीति भवान् , "भाक्-वीसौ, भातेर्डवतु" रिति ड्रिद्वत् पलयः । किम्भूता ता ? ऐक्यमुच्चैस्तरत्वादेका-

त्मकता प्राप्य द्यामाकाशं स्पृशन्तीमाश्लिष्यन्तीं । 'तच्छन्दो यच्छन्दमपेक्षत' इति वचनात् । यस्या वरगृहतनौ असितरजनिषु-कृष्णपक्षीयरात्रिषु प्रस्फुरद्रत्नदीपाः-प्रस्फुरन्ति-देदीप्यमानानि रत्नान्येवदीपा प्रस्फुरद्रत्नदीपाश्च पुनर्व्योममार्गश्च प्रद्योतते-दीप्यन्ते । कथं ? निहततिमिर-प्रध्वस्तान्धकार यथा स्यात्तथेति । अत्र भवानिति विशेषण व्योममार्गस्य वा सयोज्य, स भवान्-नक्षत्रवान् भवतीति तात्पर्यार्थं । तथा या वरगृहततिर्लोकैः-पौरैर्जनैर्दृष्टभक्तिर्दृष्टाभक्तिर्विच्छित्तिर्यस्या सा । गणकृतमनित्यमिति न्यायात् पुवद्भावः । कथ ? यथा भवति 'शान्तोद्वेगस्तिमितनयन' शान्तोपगतो य उद्वेगस्तेन तिमिते-निश्चले कौतुकालोकनोत्सुकतया नयने यत्र तत्तथा ॥ ४० ॥

पौरैस्तस्या रथमुपहृतं रम्यमास्थाय यान्तं,
द्रष्टुं ग्राम्याः पथि युवतयस्त्वामुपैष्यन्ति तस्मात् ।
शब्दैश्चक्रस्खलदुपलजैरर्थिसार्थे कृतश्री-
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥४१॥

हे नाथ ! तस्याः पुर्य्याः पौरैः रम्य-मनोहर उपहृतमुपानीतं रथमास्थायामारुह्य यातं त्वा द्रष्टुं पथिमार्गे ग्राम्या युवतयः स्त्रिय उपैष्यन्ति-आगमिष्यन्ति । तस्माद्धे स्वामिन ! 'चक्रस्खलदुपलजैः' चक्रेषु-रथाङ्गेषु स्खलन्तः-सश्लेषमामाद्यन्तो ये उपला दृषदस्तेभ्यो जाताश्चक्रस्खलदुपलजास्तैः शब्दै स्तनितमुखरो मा स्म भूः अतिपरुषध्वनिं मा कृथा । तस्मादिति किं ? यस्मात्ता ग्राम्या स्त्रियो विक्लवा -स्वभावविह्वलाः वर्तन्ते । किम्भूतस्त्व ? अर्थिसार्थे-याचकसमूहे, कृतश्रीतोयोत्सर्ग -श्रिय एव तोयानि श्रीतोयानि कृतः श्रीतोयानामुत्सर्गो वितरण येन स. ॥ ४१ ॥

त्वामायान्तं पथि यदुवराः केशवाद्या निशम्य,
प्रीता बन्धूंस्तव पितृमुखान्सौहृदान्नन्दयन्तः ।
साकं सैन्यै रथमभिमुखं प्रेषयिष्यंति तूर्णं,
मंदायंते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४२॥

हे नाथ! यदुवरा-यादवश्रेष्ठा केशवाद्याः-विष्णुप्रमुखा पथि मार्गे त्वामायान्तमागच्छन्त निशम्य-श्रुत्वा प्रीता-हृष्टा सन्तः, सैन्यैर्वाहिनीभिः साक-सार्द्धं अभिमुखं-सन्मुख तूर्णं-झटिति रथ-स्यन्दन प्रेषयिष्यन्ति-विसर्जयिष्यन्ति। सारथमन्तरेण पद्भ्यामागच्छन्वर्त्मनि श्रान्तः स्यादिति वितर्क्य रथ नेष्यन्तीति। यदुवराः किंकुर्वन्तस्तव पितृमुखान्समुद्रविजयश्रेष्ठान् बन्धून्सौहृदान् मैत्रीतो नन्दयन्त -प्रमोदयन्तो, यथा—भवत्पुत्र श्रीनेमिरागच्छतीत्येव वर्द्धापनिका दानेनेति। यद्रथ त्वा प्रेषयिष्यन्तीत्येव तद्युक्त, खलु यस्मात्कारणात्सुहृदा-मित्राणा सम्बन्धित्वेनाभ्युपेतार्थकृत्याः-पुमासो न मन्दायन्ते। अभ्युपेतमङ्गीकृत, अर्थस्य-प्रयोजनस्य कृत्यं यैस्ते तथा। येन मित्रकार्यं मया कर्त्तव्यमित्यगीकृत भवति, स खलु न मन्दायतेनालस्य भजतीति भाव। पितृमुखानित्यत्र 'मुखशब्द' श्रेष्ठार्थः। यदनेकार्थः—" मुखमुपाये प्रारम्भे, श्रेष्ठे निस्सरणास्ययो " ॥ ४२ ॥

श्रुत्वा तीरे तदनुजलधेरागतं सोपहारो,
मान्यो मंत्री यदि बलपुराच्छीरिणस्त्वामुपैति
तस्यादेया स्वशयविहिता सत्क्रिया तेन चेत्स,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥

हे नाथ! तदनु कियन्मार्गातिक्रमे त्वा जलधेः-समुद्रस्य तीरे-तटे आगतं श्रुत्वा, यदि चेद्बलपुरात्सीरिनगरात्सीरिणो-बलभद्रस्य मान्यो-गौरवार्हो मन्त्री-सचिव सोपहार -सोपायन उपैति-आगच्छति। तदा तस्य मन्त्रिणः स्वशयविहिता-स्वपाणिनिर्मिता सत्क्रिया-वस्त्रादिपूजा ते त्वया आदेया-ग्राह्या। युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थ्यादिषु विपरीतग्रहणात्कचिदन्यत्राप्यादेशः स्यादिति तृतीयायामपि ते इत्यादेशः। चेद्यदि स मन्त्री न प्रत्यावृत्तः—न प्रतीष्टः कोशेनावर्जित इत्यर्थः। तदा त्वयि नाथे कररुधि तत्-करोपानीतढौकनावरोधकारिणि अनल्पाभ्यसूयः-ईर्ष्यालु स्यादिति भविष्यति। वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वेति वचनात् ॥ ४३ ॥

गच्छेर्वेलातटमनु ततस्तोयमुल्लासिमत्स्यं,
त्वत्संकाशच्छविजलनिधेस्तस्य पश्यन्रथस्थः

यः कामीव क्षणमपि सरित्कामिनीनां न शक्तो,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥

हे नाथ ! ततोनतर वेलातटमनुलङ्घीकृत्य तस्य जलनिधेः-सागरस्य तोय पश्यन त्वं रथस्थः-स्यन्दनारूढो गच्छेर्व्रजे । किंभूत तोय ? उल्लासिमत्स्यं-उल्लासि मत्स्या यस्मिन तत् तथा । पुनः किम्भूत ? 'त्वत्सकाशच्छवि-त्वत्सकाशा तव सन्निभा छवि-कान्तिर्यस्य तत्तथा । तस्येति कस्य ? यः समुद्रः कामीव-कामुक इव सरित्कामिनीना सरित एव-नद्य एव कामिन्यः सरित्कामिन्यस्तासा 'चटुलश फरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि' चटुलाश्चञ्चलाश्च ते शफरा-मत्स्याश्च तेषामुद्वर्त्तनान्येव प्रेक्षि तान्यवलोकनानि तानि चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि, मोघीकर्त्तुं-विफलतां नेतु क्षण मिव-क्षणमपि इव शब्दोप्यर्थः, न शक्तो-नसमर्थ । उद्वर्त्तनेन दृश्यमानम दूरदेशस्यातीवविभ्रमत्वात् । कामिपक्षेतु-कामिनीना चटुलशफरोद्वर्त्तनवां समासः, सोपि तद्विभ्रमान्विफलयितु न शक्नोतीति ॥ ४४ ॥

तां वेलांके विमलसलिलामागतां द्रक्ष्यसि त्वं,
पूर्वोद्दिष्टां सरितमसकृद्वारिभिर्वीचिहस्तैः ।
आलिंग्योपरमति पिबन्यन्मुखं न क्षणार्द्धं,
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ? ॥४५॥

हे नाथ ! त्वं वेलाङ्के-वेलोत्सङ्गे-आगतां-प्राप्ता तां-पूर्वोद्दिष्टा-पुरा प्रद- र्शिता स्वर्णरेखानाम्नीं विमलसलिला-निर्मलजला सरित-नदीं असकृद्वारंवारं द्रक्ष्य- स्यवलोकयिष्यसि । तामिति का ? या सरित वीचिहस्तैर्वीचय एव हस्ता येषा ते तैर्वारिभिर्जलैरालिंग्याश्लिष्य यन्मुखं यस्या नद्यामुखमाननं यन्मुख पिबन । अपि शब्दोत्रानुक्तोप्याक्षिप्यते । क्षणार्द्धमपि न उपरमति-न निवर्त्तते । यतो लब्धा स्वादः पुलिनजघना-पुलिनमेव जघनं यस्याः सा तथा तां । अर्थान्तरेतु- पुलिनवत्-पुलिनाकारं जघनमिति तां विहातुं-परित्यक्तुं कः समर्थ ? अपितु न कोपीति । उपरमतीत्यत्र "विभाषाऽकर्मकादिति" सूत्रेण उपाद्रमो वा परस्मै- पदम् ॥ ४५ ॥

तस्मिन्नुच्चैर्दलितलहरीसीकरासारहारी,
वारांराशेस्तटजविकसत्केतकामोदरम्यः
खेदं मार्गक्रमणजनितं ते हरिष्यत्यजस्रं,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४६॥

हे नाथ ! तस्मिन् वेलातटे उच्चैरतिशयेन वारांराशेः-समुद्रस्य शीतः शीतलो वायुरजस्र-निरन्तर ते-तव 'मार्गक्रमणजनित' मार्गस्य-पथो यत्क्रमणं लघन तेन जनित श्रम हरिष्यति-अपनेष्यति । किंभूतो वायुः ? 'दलितलहरीसीकरासारहारी' दलिता द्वेधीकृता या लहर्य्यः-कल्लोलास्तासा ये सीकरा-वातप्रेरिता जलकणास्तेषा, य आसारो-वेगवान्वर्षस्तेन हारी-रुचिरः ? पुन किंभूत 'तटजविकसत्केतकामोदरम्य' 'तटजानि-तीरोद्भवानि विकसंति प्रफुल्लानि यानि केतकानि-केतकीपुष्पाणि तेषा य आमोद परिमलस्तेन रम्य -प्रधानः । पुन किंभूतः ? परिणमयिता-पाचयिता । केषा ? काननोदुम्बराणा-काननोदुम्बरफलाना, अनेन तत्परिसरे वनराजिप्राचुर्य्यमुदुम्बराणि च घनागमसमये पच्यन्ते इ व्यज्यते ॥ ४६ ॥

नाम्ना रत्नाकरमथ पुरस्त्वं व्रजेर्वीक्षमाणो,
जज्ञे यस्माद्भुवनभयकृत्तत्पुरा कालकूटम्
यत्रासाध्यं निवसति जगद्दाहदक्षं जलानाम्—
त्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥४७॥

हे नाथ ! अथानन्तरं त्वं स्वं-निजं यत्तदोर्नित्ययोगात्तन्नाम्ना रत्नाकरं पुरो पुरो वीक्षमाणोऽवलोकमानः व्रजेर्गच्छेः । तदिति किं ? यस्मात्पुरात्पुरा-पूर्वं भुवनभयकृत्त्रिलोकीभीतिविधायक तत्कालकूट-विषं जज्ञे-जातं । तदिति किं ? यत्र कालकूटे जलानां-अपा मध्ये असाध्य भक्षणानन्तरमप्रतीकार्यं । हि-निश्चितं तत्तेजो निवसति-आस्ते । तदिति किं ? यत्तेज जगद्दाहदक्षं-जगतामपि दाहे दक्षं-प्रवीणं । पुन किंभूत ? अत्यादित्य-आदित्यमतिक्रान्त दिनकरादपि सातिशयमित्यर्थ । पुन किंभूत ? हुतवहमुखे सम्भृत-न्यस्तं आरोपितमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

त्वामायान्तं तटवनचरा मेघनीलं मयूरा,
दृष्ट्वा दूरान्मधुरविरुतैस्तत्र ये संस्तुवन्ति ।
त्वं तान्नेमे ! ध्वनिभिरुदधेः सान्द्रितैः सन्निकृष्टः,
पश्चाददद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्त्तयेथाः ॥४८॥

हे नाथ ! तत्र वेलातटे तटवनचरास्तटवनेषु चरन्ति-विहरन्तीति तटवनचराः, ये मयूरा मेघनीलं-मेघवन्नीलवर्णं त्वामायान्तमागच्छन्तं दूरात् दृष्ट्वा मधुरविरुतैः-श्रवणानुकूलध्वनिभिः संस्तुवन्ति-वर्णयन्ति । तान्मयूरान् हे नेमे ! त्वं उदधेः-समुद्रस्य सान्द्रितैर्घनतां प्राप्तैर्गर्जितैर्गर्जितानीव गर्जितानि तैर्ध्वनिभिः कृत्वा सन्निकृष्टः मयूराणां समीपीभवन्सन्पश्चान्नर्त्तयेथाः । किंभूतैर्गर्जितैः ? श्रद्रिग्रहणगुरुभिः-गिरिगुहाश्रयसमुद्भूतप्रतिरवगम्भीरैरयमर्थः-प्राक् त्वां मेघभ्रान्त्या दृष्ट्वा शिखिनः कूजिष्यन्ति । ततस्त्वं तेषां कूजितं सफलयन्तथाविधैर्गर्जितैर्नर्त्तयेथा इति ॥ ४८ ॥

उत्कल्लोला विपुलपुलिनाग्रेऽथ भद्राभिधाना,
सा ते सिन्धुर्नयनविषयं यास्यति प्रस्थितस्य ।
वातोद्धूतैर्हसति सलिलैर्या शशांकांशुगौरैः,
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् ॥४९॥

हे नाथ ! अथेत्यनन्तरं अग्रे प्रस्थितस्य-प्रवृत्तस्य ते-तव सा भद्राभिधाना-सिन्धुर्नदी नयनविषयं दृग्गोचरं यास्यति । किंभूता सिन्धुः ? 'उत्कल्लोला' उत्-ऊर्ध्वं कल्लोला-वीचयो यस्याः सा तथा । पुनः किंभूता ? 'विपुलपुलिना' विपुलं पृथुलं पुलिनं-जलोज्झितं तटं यस्याः सा तथा । सेतिका ? या 'शशांकांशुगौरैः' शशांकश्चन्द्रस्तस्य ये अंशवः किरणास्तद्वद्धवलैः सलिलैः कृत्वा रन्तिदेवस्य-रन्तिदेवनाम्नः पृथिवीपतेः कीर्त्तिं हसति-तिरस्करोति । किंभूतैः सलिलैर्वातोद्धूतैः-वातेनोद्धूतानि उच्छलितानि वातोद्धूतानि तैः । किंभूतां कीर्तिं ? स्रोतोमूर्त्या नदीरूपेण भुवि परिणतां-पृथिव्यां प्रसृतां आत्मरूपपरित्यागेन रूपान्तरमापन्नामित्यर्थः ॥ ४९ ॥

उच्चैर्भिन्नाञ्जनतनुरुचौ हारिनीरं रथस्थे,
तस्यास्त्वय्युत्तरति सरितो यादवेन्द्र ! प्रवाहम्
वीक्षिष्यन्ते क्षणमनिमिषा व्योमभाजोतिदूरा-
देकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥

हे यादवेन्द्र ! श्रीनेमे ! त्वयि रथस्थे—स्यन्दनारूढे उत्तरति सति तस्या भद्रायाः प्रवाहं—ओघ उच्चैरतिशयेन क्षणं यावद्व्योमभाजो-गगनचारिणो मुनिदेवसिद्धविद्याधरादयोऽनिमिषा-निमेषरहिता सतः, अतिदूरादतिदूरभावात् भुवः पृथिव्या एकमेकसख्यं स्थूलमध्येन्द्रनील-स्थूलो मध्ये इन्द्रनीलो यस्य स तं मुक्तागुणमिव मौक्तिकमरिमेकावलिमित्यर्थ । प्रेक्षिष्यन्ते-प्रकर्षेण विलोकयिष्यन्ते अवनि कामिनी वक्ष स्थललुठदेकावलिविस्मयमाधास्यन्तीति भावः । किंभूत प्रवाहं ? 'हारिनीर' हारि-मनोहर नीर-जल यस्य स तं । किंभूते त्वयि ? भिन्नाजनतनुरुचौ-भिन्न यर्दितं-यदजनं तद्वत्तनुरुचि -शरीरकान्तिर्यस्य स तस्मिन् । अनेन श्यामल पृथुवपुरपि भगवतो दूरदेशावस्थितत्वेन तनुतया मध्येन्द्रनीलमणीयते सिन्धो प्रवाहोपि दूरभावात्पृथुरपि एकमुक्तावलीयत इति भाव. ॥ ५० ॥

तामुत्तीर्णः पुरमधिवसेरीश ! पौराभिधानं,
नानादेशागतपणचयैः पूर्णरम्यापणं तत् ।
यस्याकाशं स्पृशति निवहो वेश्मनां दिग्विभागान्
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥

हे ईश ! त्व ता—भद्राभिधा नदीमुत्तीर्णः सन्, तत् पौराभिधान-पुरमधिवसेस्तत्र निवास कुर्याः । किंभूत पुर ? 'नानादेशागतपणचयैः' नाना—देशाद्विविधविषयादागता ये पणचया -विक्रय्यसमूहास्तै 'पूर्णरम्यापण' पूर्णा-भृता रम्या आपणा—विपणयो यस्मिन्तत् । तदिति किं ? यस्य—पुरस्य वेश्मना मन्दिराणा निवहः श्रेणिरुच्चशिखरत्वादाकाश-नभः स्पृशत्याश्लिष्यति । वेश्मना निवहः किंकुर्वन् ? दशदिशसख्याकान्—दिग्विभागान्दिगन्तरालानि 'पुरवधूनेत्रकौतूहलाना' पुरस्य वध्व पुरवध्वस्तासा यानि नेत्रकौतूहलानि पुरवधूनेत्रकौतूह-

लानि तेषामत्र कौतुकं कारण विलोकित । कार्यं कारणे कार्योपचारात् न्यनयननिरीक्षिताना पात्रीकुर्वन् ॥ ५१ ॥

तस्माद्वर्त्मानघ ! तव कियद्गच्छतो भावि दुर्गं,
पङ्काकीर्णं नवतृणचितं तत्र तोयाशयानाम् ।
कुर्वन्नब्दः किल कलुषतां मार्गणैः प्रागरीणां,
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥

हे अनघ ! निष्पाप ! तव तस्मात्पुरात् गच्छतः कियत् कियन्मानं वर्त्मः दुर्गं—दुःखेन गम्य भावि—भविष्यति । किंभूतं वर्त्म ? 'पंकाकीर्णं' पंकः-कर्दमस्तेनाकीर्णं—व्याप्तं । पुनः किंभूत ? नवतृणचित-शष्पाकलित । यत्र वर्त्मनि अब्दो-मेघस्तोयाशयाना—जलाश्रयाणा कलुषता—मलिनतां कुर्वन । धारापातैर्वं गवतीर्वृष्टिभि' कमलान्यभ्यवर्षत्पूरयामास । केषा ? क नि ? कै ? क इव ? अरीणा मुखानि मार्गणैस्त्वमिव । यथा त्व प्राक् योगग्रहणात्पुरा अरीणा मुखानि मार्गणैर्बाणैरभ्यवर्षत्पूरयामास, तथायमपीति ॥ ५२ ॥

नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः पुरस्ते,
यास्यत्यक्ष्णोर्विषयमचलो मादनो गन्धपूर्वः ।
यं सोत्कण्ठो नवमिवपुनर्वीक्षितुं कान्तहर्षा-
दन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५३॥

हे नाथ ! ते—तव पुरोग्रे यत्तदोर्नित्ययोगात्स 'गन्धपूर्व.' गन्धेति पदं पूर्वं स्यति गन्धपूर्वो मादन -गन्धमादन इत्यर्थः । अचलः-पर्वतोऽक्ष्णोर्दृशोर्विषयं यास्यति-दृग्गोचरो भविष्यतीत्यर्थः । किंभूतोऽचल ? नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः नानारत्नैर्ये उपचितानि पुष्टानि यानि शिखराणि-शृगाणि तेषां या श्रेणिस्तया, रम्यः-प्रधान. । स इति क ? यं गन्धमादन कान्तहर्षाच्चारुप्रमोदात्पुनर्नव मिव वीक्षितुं-द्रष्टुं सोत्कण्ठ -सौत्सुक्यस्त्वमपि अत शुद्धो मध्ये पवित्रः सन् , वर्णमात्रेणैव कृष्णो भविता-भविष्यसि । तत्सम्पर्कात्तवापि मलापगमो भविष्यतीत्यर्थ' । भवितेति तृनादीनामनिर्दिष्टकालत्वात्कालत्रयेपि साधारण्येन भविष्यति तान्छीलिकस्तृन् ॥ ५३ ॥

यस्मिन्पूर्वं किल विरचतो वामभागे भवानीं,
देवीं वीक्ष्य त्रिपुरजयिनः स्वेच्छया केलिभाजः
जह्नोः पुत्री तदनु दधतीं तामिवेर्ष्यां सपत्न्याः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५४

हे नाथ ! किलेति सम्भाव्यते । यस्मिन्गन्धमादने पूर्वं—प्रथम विरचित-गण्डाया पत्रलेखा विदधतास्त्रिपुरजयिनः—शम्भोर्वामभागे—वामप्रदेशे भवानीं—गौरीं देवीं—वीक्ष्य—दृष्ट्वा तदनुपश्चात्जह्नोः पुत्री—गगा सपत्न्या —गौर्य्यास्तामिति । यदसौममनपत्रलता विरचयत्येतस्या एव विरचयतीत्येवमीर्षा दधतीव शम्भो केशग्रहण—केशाकर्षण अकरोत् । कथभूता सती ? 'इन्दुलग्नोर्मिहस्ता' इन्दुश्चन्द्रमसो लग्ना—ऊर्म्मय एव-हस्तौ यस्याः सा । अनेन मुकुटीकृतत्वाच्चन्द्रस्य तल्लग्नहस्तत्त्वेन महेश्वरमग्रकेशेषु जग्राहेति प्रणयिनी त्व व्यज्यते । किंभूतस्य त्रिपुरजयिनः ? स्वेच्छया-स्वकामेन 'केलिभाजः' केलिं—क्रीडा भजतीति केलिभाक् तस्य केलिभाज । विरचत इति-रचण् प्रतियत्ने-धातुर्विपूर्व, अस्य चुरादिषु पाठात् शतृप्रत्यये विरचयत इति रूप स्यादतो 'विरचत' इति हा चिन्त्यं ॥ ५४ ॥

आरूढस्य स्फटिकमणिभूः श्वेतभानुप्रभाते,
यस्मिन्शैले विमलविलसत्कान्तितोयप्रवाहा ।
संक्रामन्त्या नवघनरुचा छायया स्वर्धुनीव,
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेनाभिरामा ॥५५॥

हे नाथ ! यस्मिन्शैले गन्धमादनाभिधाने आरूढस्य-अधिरूढस्य ते-तव छायया-शरीरशोभया सक्रामन्त्या अन्तर्विशन्त्या स्फटिकमणिभूः उत्प्रेक्ष्यते—'अस्थानोपगतयमुनासगमेन' अस्थाने—प्रयागव्यतिरेकेण उपगतः—प्राप्तो यो यमुनासगमस्तेन प्रयागतीर्थव्यतिरिक्तस्थानसजातयमुनासंयोगेनेत्यर्थ । अभिरामा स्वर्धुनीव-गंगेव स्यात्—भवेत् । किंभूता स्फटिकमणिभूः ? 'श्वेतभा-

नुप्रभा' श्वेतभानुश्चन्द्रस्तद्वत्प्रभा-रुचिर्यस्या सा । पुनः किंभूता ? 'विमलविलसतकान्तितोयप्रवाहा' विमला-निर्मला विलसन्ती-उल्लसन्ती कान्तिरेव तोयप्रवाहो-जलधारा यस्या सा । किंभूतया छायया ? नवघनरुचा' नवो-जलभृतो यो घनस्तद्वद्रुक्कान्तिर्यस्याः सा तया । अयमर्थः त्वच्छरीरच्छविर्नीलास्ति, गिरेस्फटिकमणिभूमिः श्वेता । अतस्तत्र त्वच्छवि-प्रतिबिम्बेन उत्प्रेक्ष्यते । किं अस्थाने यमुनासगमवती गंगेयमिति । अत्र छायाशब्दः शोभार्थ । यदनेकार्थः-" छाया पंक्तौ प्रतिमाया-मर्कयोषित्यनातपे । उत्कोचे पालने कान्तौ, शोभाया च तमस्यपी" ति ॥ ५५ ॥

भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहत्तुङ्गशृंगाग्रसंस्थाः,
संप्रत्युद्यत्परिणतफलश्यामला वामभागे ।
यस्मिन्जम्बूक्षितिरुहचया धारयिष्यन्ति सान्द्राः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५६

हे नाथ ! यस्मिन्गन्धमादने शैले संप्रत्यधुना वामभागे-वामप्रदेशे सान्द्रा निविडा जम्बूक्षितिरुहचया-जम्बूवृक्षसघाः । 'शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपकोपमेय' शुभ्रो-धवलो योसौ त्रिनयनवृषस्तेनोत्खातउत्पाटितो योसौ पङ्कः-कर्दमस्तेन सहोपमीयते या सा शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपकोपमेया, ता शोभा धारयिष्यन्ति-वहिष्यन्ति । शैलशृंगाग्रस्य श्वेतत्वादीशवृषसाम्यं जम्बूतरुणा च, श्यामत्वात्पंकोपमेयनेति । किंभूता जम्बूक्षितिरुहचया ? 'भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहत्तुंगशृंगाग्रसंस्था ' भास्वानिव-रविरिव भास्वन्ति-देदीप्यमानानि, मणिमयानि-स्फटिकमणिप्रधानानि बृहन्ति, विपुलानि तुगान्युच्चानि यानि शृगाग्राणि तेषु संतिष्ठन्ते, ये ते भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहतुगशृंगाग्रसस्था । पुन किंभूताः ? 'उद्यत्परिणतफलश्यामला.' उद्यन्ति परिणतानि पक्वानि यानि फलानि तै', श्यामला-अतिशयेन कृष्णवर्णा ॥ ५६ ॥

श्रुत्वा यांतं द्रुतमुपगतास्तत्र वेदानिकाया—
स्त्वां याचन्ते प्रथितयशसं येऽर्थिनो दौःस्थ्यदीनाः ।

तान्कुर्वीथाः समभिलषितार्थप्रदानैः कृतार्था-
न्नापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

हे नाथ ! तत्र शैले ये अर्थिनो-याचकास्त्वा यातं-द्वारिका प्रतिगच्छ-न्तं मत्वा वेदानिकाया. पुर्य्या द्रुतं शीघ्रमुपागताः-प्राप्ताः । द्विकर्मकत्वात्-याचृ धातोः-साक्षादनुक्तमपि द्रव्यमिति कर्मयोज्य। याचंते-प्रार्थयन्ते । किंभूतं त्वा ? प्रथितयशस-विख्यातकीर्त्तिं । किंभूता अर्थिन ? 'दौस्थ्यदीना.' दौस्थ्येन-दारिद्रयेण दीना दौस्थ्यदीनास्तान्-अर्थिनः समभिलषितार्थप्रदानैः-मनोवाञ्छि-तार्थवितरणैः कृत्वा कृतार्थान्-कृतकृत्यान् त्वं कुर्वीथाः-विदधीथाः । अर्थान्त-रन्यासेन कारणमाह-हि-यस्मादुत्तमाना सपद , आपन्नार्त्तिप्रशमनफलाः-आ-पन्न-आपद्गतस्तस्यार्त्ति-पीडा तस्याः यत्प्रशमनं तदेव फलं यासा ता । तथा चानेकार्थे -"आपन्न सापदि प्राप्ते च" । अत्र तावदापन्ना याचकास्तेषामर्थ-दानेनार्त्तिशान्तिं कुर्य्या इति भावः ॥ ५७ ॥

आकर्ण्याद्रिप्रतिरवगुरुं वानरास्त्वत्सकाशे,
क्रोधाताम्रा जनमुखरवं तत्र येभिद्रवन्ति ।
तान्योधानां विमुखय पुनर्दारुणैर्ज्यानिनादैः,
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥

हे नाथ ! तत्र शैले ये वानरा.-कपयस्त्वत्सकाशे-त्वत्समीपे 'अद्रिप्रति-रवगुरु' अद्रौ-शैले य. प्रतिरव -प्रतिशब्दस्तेन गुरुर्गभीरस्तं । जनमुखरवं-जनाना त्वदभिमुखागताना लोकाना यो मुखरवस्तमाकर्ण्य-श्रुत्वा अभिद्रवन्ति अभिमुखमागच्छन्ति । अभिपूर्वो द्रु गतौ-धातुर्ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः इति वच-नात् । तान्वानरान्पुनर्भूयो योधाना-शूराणा ज्यानिनादैः-प्रत्यञ्चाविस्फारैः कृत्वा विमुखय-पराङ्मुखीकुरु । एतदेवार्थान्तरन्यासेन निरूपयति-के वा न स्युर्वा, समु-च्चयेन केवलमेत एवान्येपि केवा न भवेयुः ? परिभवपद । कीदृशाः सन्तो ? 'निष्फलारम्भयत्नाः' आरम्भे यत्न उपक्रम आरभयत्नः, निष्फलआरभयत्नो येषा ते तथा, लोकैरुपहास्यमानाः-पराभवभाजनं भवन्तीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

तस्मिन्नद्रौ निवसति विभुः स स्वयंभूर्भवाख्यो,
देवः सेवापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः ।
यद्ध्यानेनापहृतदुरिता मानवाः पुण्यभाजः,
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ ५९ ॥

हे नाथ ! यस्मिन्नद्रौ—गन्धमादनगिरौ स भवाख्य—ईश्वराभिधो देवो निवसति-निवास विधत्ते । किंभूतो देवः ? विभुर्व्यापक समर्थो वा । पुनः किंभूतः ? स्वयभूः' स्वयं भवतीति परानुत्पाद्यत्वात्स्वयंभूः । पुन किम्भूतः ? सेवापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्द —नमस्करणीयचरणकमल । स इति क ? 'यद्ध्यानेन' यस्येश्वरस्य ध्यानेन—मनःस्मरणेन अपहृतदुरिता—अपनीतपापा, मानवा. श्रद्दधाना -श्रद्धालव सन्तः, स्थिरगणपदप्राप्तये—स्थिरमविनश्वर यद्गणपद तस्य प्राप्तिः स्थिरगणपदप्राप्तिस्तस्यै सकल्पन्ते—समर्था भवन्ति । किंभूताः ? 'पुण्यभाज 'पुण्य भजन्त इति पुण्यभाज । शम्भुध्यानेन प्रध्वस्तपातका विनाशिशरीर परित्यज्य भक्तिभाज शाश्वतीमीश्वरगणपदवीं लभन्त इति तात्पर्यं ॥ ५६ ॥

नीपामोदोन्मदमधुकरीगुंजनं गीतरम्यं,
केका वेणुक्वणितमधुरा बर्हिणां चारुनृत्यम् ।
श्रोत्रानन्दी मुरजनिनदस्त्वत्प्रयाणे यदि स्या—
त्सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥६०॥

हे नाथ ! त्वत्प्रयाणे—त्वदीयप्रस्थाने यदि चेत् 'श्रोत्रानंदी' श्रोत्राणि आनन्दयतीति श्रोत्रानन्दी, मुरजनिनदो—मृदंगोद्भवध्वनि. स्यादिति भविष्येत् । "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वे" ति वचनात् । तदा ननु—निश्चित पशुपतेरवयवे समुदायोपचारात्पशुपतिचरणन्यासे सगीतार्थ —प्रेक्षाविधिः समग्रः-परिपूर्णस्तत्र पर्वते भावी—भविष्यति । अन्यनृत्यकारणाना स्वत एव सिद्धत्वात्तथाहि—नीपामोदोन्मदमधुकरीगुञ्जन ' नीपामोदैर्नीपपुष्पगन्धैरुन्मदा—दृप्ता या मधुकर्य-

स्तासा यद्गुंजन तदेव, 'गीतरम्य' गीतवत्सुगातृगानवद्रम्य-प्रधान। तथा केका-मयूरध्वनिः 'वेणुक्वणितमधुरा' वेणुक्वणितवत्-वाशिकवादितवेणुनिक्वाणवन्मधुरा। तथा बर्हिणा चारुनृत्यं। एव सर्वोपि सगीतोपायः सम्मिलितोस्ति। पर यदि मुरजनिनदो भविष्येत्, तदा पूर्णः सगीतार्थो भविष्यतीति भावः ॥६०॥

तस्माद्गच्छन्नथ पथि भवान्वीक्षिता वेणुलाख्यं,
शैलं नीलोपलचयमयाशेषसानुच्छ्रयन्तम्।
व्याप्याकाशं नवजलभृतां सन्निभो यो विभाति,
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥६१॥

हे नाथ! अथेत्यनन्तर भवास्त्व अस्माद्गन्धमादनाद्गच्छन्पथि मार्गे त वेणुलाख्य-शैल वीक्षिता-द्रक्ष्यसि। किंभूत त? 'नीलोपलचयमयाशेषसानुच्छ्रय' नीलोपला-नीलमणयस्तेषा यश्चयः-सघस्तत्प्रधानानि नीलोपलचयमयानि यानि अशेषाणि-समस्तानि सानूनि-प्रस्थानि तेषामुच्छ्रय उदग्रता विद्यते यस्मिन्स तं। अत्र प्राधान्ये मयट्। तमिति क? यः-शैलः आकाश व्याप्य नवजलभृता-नवीनमेघाना सन्निभः-सदृशो विभाति-शोभते। किंभूतः शैल? उत्प्रेक्ष्यते-विष्णोर्वासुदेवस्य श्यामः-कृष्णः पाद इव। किंभूतस्य विष्णोः? बलिनियमनाभ्युद्यतस्य बलिबन्धने उद्यतस्य-उद्यमवतः ॥ ६१ ॥

तांस्तान्ग्रामांस्तमपि च गिरिं दक्षिणेन व्यतीत्य,
द्रष्टास्यग्रे सितमणिमयं सौधसंघं स्वपुर्याः।
क्रान्त्वा वप्रं वियति विशदैः शोभते योंशुजालै
राशीभूतः प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६२॥

हे नाथ! त्व तास्तान् अन्तराले पूर्वपरिचितान्ग्रामानपि च तं-गिरिं वेणुलाख्यं दक्षिणेन-दक्षिणा दिग्विभागे। दक्षिणेनेत्यव्यय, "एनबन्यतरस्यामदूरे पचम्याः" इति-एनप् प्रत्ययः। व्यतीत्य-अतिक्रम्य, अग्रे पुर -स्वपुर्याः द्वारिकायाः सितमणिमय-श्वेतमणिप्रधान, यत्तदोर्नित्ययोगात्त सौधसघं-नृपम-

न्दिरसमूहं द्रष्टास्यवलोकयितासि । तमिति कं ? यः सौधसंघ. वियत्याकाशे विशदैर्निर्मलैरंशुजालै-किरणसमूहैः वप्रं-प्राकारपीठभूमिं क्रान्त्वा-उल्लंघ्य राशीभूतः पुञ्जीभूत उत्प्रेक्ष्यते-त्र्यम्बकस्य-महेश्वरस्य अट्टहास इव ॥ ६२ ॥

प्रत्यासत्तिं विशदशिखरोत्संगभागे पयोदे,
नीलस्निग्धे क्षणमुपगते पुण्डरीकप्रभस्य ।
शोभा काचिद्विलसति तनोर्हारिणी यस्य संप्र—
त्यंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६३॥

हे नाथ ! यस्य 'पुण्डरीकप्रभस्य' पुण्डरीकं-सिताम्भोजं तद्वत्प्रभा-छाया स्य स, तस्य शैलस्य सम्प्रति 'विशदशिखरोत्सङ्गभागे' विशदानि-धवलानि नि शिखराणि-शृगाणि तेषा य उत्संगभागः-क्रोडैकदेशः तस्मिन्हारिणी-नोहरा शोभा काचिदनिर्वाच्या विलसति, क ? सति नीलस्निग्धे-कृष्णारुत्ते ोदे-मेघे क्षण यावत् प्रत्यासत्तिं नैकट्यमुपगते-प्राप्ते सति उत्प्रेक्ष्यते-कस्येव ? लभृत इव-बलभद्रस्येव, यथा हलभृतस्तनोरसन्यस्ते मेचके-कृष्णवर्णे वाससि-भा काचिद्विलसति, तथैतस्यापीति । बलभद्रोपि शुभ्रवर्ण इति प्रसिद्धि ॥६३॥

प्राप्योद्यानं पुरपरिसरे केलिशैले यदूनां,
विश्रामार्थं क्षणमभिरतिं गोमतीवारि पश्यन् ।
उत्सर्पद्भिर्दधदिव दिवो वर्त्मनो वीचिसंघैः,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६४॥

हे नाथ ! त्व पुरपरिसरे यदूना केलिशैले क्रीडागिरौ उद्यानं प्राप्य क्षणं वद्विश्रामार्थं-खेदापनयनार्थं अभिरतिं कुरु-अवस्थानं विधेहि । किंकुर्वन् सन् ? मतीवारि पश्यन्सन् । उत्प्रेक्ष्यते-गोमतीवारि उत्सर्पद्भि -ऊर्द्ध्वं प्रसरद्भिर्वीचि-घैः-कल्लोलराजिभिर्दिवो वर्त्मनः-नभो मार्गस्य सोपानत्व-सचारिसोपानपरम्परा धदिव-बिभ्रदिव । किंभूतस्त्वं ? मणितटारोहणाय । 'अग्रयायी' अग्रे सर्वेपा-पि पुरो यातीत्येवंशीलोग्रयायी ॥ ६४ ॥

तत्रासीनो मुररिपुयशो निश्चलः किन्नरीभिः,
शृण्वंस्तिष्ठेः श्रुतिसुखकरं गीयमानं मुहूर्त्तम् ।
शब्दैरश्मस्खलितरथजैर्मेदुरैर्नाम्बुराशेः,
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥६५॥

हे नाथ ! तत्र केलिशैले त्व आसीन—उपविष्टः सन्, यत्तदोर्नित्ययोगात् याभिः किन्नरीभिर्गीयमानं मुररिपुयशो-विष्णुकीर्त्तिं मुहूर्त्तं यावच्छृण्वन्श्रुतिविषयी कुर्वन्, निश्चलस्तिष्ठेर्गतिनिरोधं कुर्य्याः । कथ ? यथा भवति-श्रुतिसुखकर—श्रोत्रानुकूल यथा स्यादिति, ताः-किन्नरीः श्रवणपरुषै —कर्णकठोरैर्मेदुरैः पुष्टैरम्बुराशेर्जलधेर्गर्जितै शब्दैर्नभाययेर्नभयाकुलाः कुर्य्याः । किभूतैर्गर्जितैरश्मस्खलितरथजैः—अश्मभिः-पाषाणै स्खलितः—सघट्ट प्राप्तो यो रथस्तस्माज्जाता अश्मस्खलितरथजास्तै. । किभूतास्ता ? क्रीडालोला —क्रीडाया साभिलाषा । भाययेरित्यत्र गर्जिताना साधनत्व भय प्रति कुश्चिकयैनं भाययतीतिवत् न हेतुभयं, तेनात्वात्मनेपदे न भवतः ॥ ६५ ॥

सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितं प्रोन्मिषत्केतकीकं,
हृद्यं जातिप्रसवरजसा स्वादमत्तालिनादैः
नृत्यत्केकामुखरशिखिनं भूषितोपांतभूमिं,
नानाचेष्टैर्जलदललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६६॥

हे नाथ ! त्वं त—नगेन्द्र—क्रीडाशैल निर्विशेरुपभुजीथाः । किभूत तं 'सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभित' सान्द्रा—निरन्तरा उन्निद्रा —प्रफुल्ला येर्जुनास्तैः, सुरभित-सुगन्धिता प्रापित । पुनः किंभूत ? 'प्रोन्मिषत्केतकीकं' प्रोन्मिषन्त्यो विकसन्त्यः केतक्यो यस्मिन्स त । "नद्यृतश्चे" ति वहुव्रीहेः कप् । पुन किंभूतं ? 'जातिप्रसवरजसास्वादमत्तालिनादैः' जातिप्रसवाना—जातिपुष्पाणां यद्रजः-परागस्तस्य य आस्वादस्तेन मत्ता ये अलयो—भ्रमरास्तेषा नादैर्गुञ्जितै र्हृद्यं-मनोहर । पुनः किभूत ? 'नृत्यत्केकामुखरशिखिन' नृत्यन्तः केकामुखरा वर्हिर्ध्वनिवाचाला शिखिनो—मयूरा यत्र तं । पुन किंभूत ? नानाचेष्टैर्विविध

निस्यन्दैर्जलदललितैर्मेघविलासैर्भूषितोपान्तभूमिं भूषिता-अलंकृता उपान्तभूमिः-पर्यन्तावनिर्यस्य स तं ॥ ६६ ॥

तस्या हर्षादविकृतमहास्ते प्रवेशाय पुर्या
निर्यास्यन्ति प्रवरयदवः सम्मुखाः शौरिमुख्याः ।
या कालेऽस्मिन्भवनशिखरैः प्रक्षरद्वारि धत्ते,
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ ६७ ॥

हे नाथ ! तस्याः पुर्या-द्वारिकायाः सकाशात्हर्षात्प्रमोदात् शौरिमुख्याः-केशवप्रमुखा प्रवरयदवस्ते-तव प्रवेशाय-प्रवेशार्थं सन्मुखा-अभिमुखा निर्यास्यन्ति-निर्गमिष्यन्ति । किम्भूतास्ते ? 'अविकृतमहाः' अविकृता-विकाररहितास्त्वत्प्रवेशार्थं महा उत्सवा येषां ते तथा । तस्या इति कस्याः ? या अस्मिन्काले-वर्षासमये भवनशिखरैर्मन्दिराग्रैरभ्रवृन्द धत्ते । किंभूतमभ्रवृन्दं ? 'प्रक्षरद्वारि' प्रक्षरज्जलद्वारि यस्मात्तत् । पुरी केव ? कामिनीव । यथा-कामिनी अलकं-केशं मुक्ताजालग्रथित-मुक्ताफलसमूहशबलितं धत्ते । अत्र पुर्याः कामिनीत्वं घनपटलस्यालकत्व प्रक्षरत्पानीयस्य मुक्ताफलग्रथितत्वमुपमानितमिति । अत्रोपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसं प्रोल्लसद्रत्नदीपा,
मानप्रांशुं शिखरनिवहैर्व्योममार्गं स्पृशन्तः ।
गौरज्योत्स्नाविमलयशसं शुभ्रभासः सुधाभिः,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ ६८ ॥

हे नाथ ! यत्र द्वारिकायां प्रासादास्त्वां तुलयितु-अनुकर्तुं तैस्तैर्विशेषैरभिधीयमानसदृशधर्मैरलं समर्थाः । किम्भूतं त्वां ? 'शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसं' शश्वन्निरन्तरं सान्द्रं-घनं स्वतनोः-स्वशरीरस्य महस्तेजो यस्य स तं । किंकुर्वन्त प्रासादाः ? 'प्रोल्लसद्रत्नदीपाः' प्रोल्लसन्ति-प्रभाभिर्भास्वन्ति रत्नान्येव दीपा येषु ते तथा । किम्भूतं त्वां ? 'मानप्रांशुं' मानेन प्रांशुरुच्चैस्तरस्तं मान-

प्राशु । किम्भूताः प्रासादा ? शिखरनिवहैर्गृहाग्रभागसमूहैर्व्योममार्ग-नभः पथं स्पृशन्तः-आश्लिष्यन्तः । किम्भूत त्वा ? 'गौरज्योत्स्नाविमलयशस' गौरा-शुभ्रा या ज्योत्स्ना-कौमुदी तद्वद्विमल यशो यस्य स त । किम्भूताः प्रासादा ? सुधाभिर्लेपै शुभ्रभासः-श्वेतकान्तय ॥ ६८ ॥

या मुद्दामाखिलसुररिपून्माथिनो दानवारेः,
साहाय्याय प्रथितमहसोऽध्यासते योधवर्गाः
नानादैत्यप्रहरणभवैः संगरेषु स्वकीर्त्या,
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ ६९ ॥

हे नाथ ! यां-पुरीं दानवारे -कृष्णस्य साहाय्याय-सहायत्वार्थे योधवर्गा -शूरसघा अध्यासन्ते-अधितिष्ठन्ति । किंभूतस्य दानवारे ? 'उद्दामाखिलसुर-रिपून्माथिन.' उद्दामा -स्वशौर्येणोत्कटा अखिला -समस्ता ये सुररिपवो-दैत्या-स्तान्उन्मथतीत्येवंशील उद्दामाखिलसुररिपून्माथी, तस्य उद्दामाखिलसुररिपू-न्माथिन । पुन किंभूतस्य ? प्रथितमहसो-विख्याततेजस । किंभूता योधवर्गाः ? सगरेषु-रणेषु नानादैत्यप्रहरणभवैर्नानादैत्याना-विविधासुराणा प्रहरणेभ्यः भवा-उत्पन्ना नानादैत्यप्रहरणभवास्तैश्चन्द्रहासव्रणाकैः-खड्गाकिणाकै, स्वकी-र्त्या-स्वयशसा खड्गव्रणाकितत्वेन तेषा विशिष्टकीर्तेरुत्थानमायत उक्तम्-"खण्डिता एव शोभन्ते, वीराध्वरपयोधरा" इति । 'प्रत्यादिष्टाभरणरुचय ' प्रत्यादिष्टा-निराकृता आभरणाना रुक्-कान्तिर्यैस्ते, सौवर्णाभरणानि परिदध-तीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

व्याधिर्देहान्स्पृशति न भयाद्रक्षितुः शार्ङ्गपाणे-
र्मृत्योर्वार्त्ता श्रवणपथगा कुत्रचिद्वासभाजाम्
कामक्रीडारससुखजुषां यच्छतामर्थिकामा—
न्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥७०॥

हे नाथ ! यत्रेत्याध्याह्रियते । यत्र पुर्यां रक्षितु.-लोकाना रक्षकस्य शार्ङ्गपाणेर्विष्णोर्भयात्व्याधिर्मान्द्यं देहान न स्पृशति । तथा 'वासभाजा' वास-

द्वारिकानिवास भजन्तीति वासभाजस्तेषा, तन्नगरनिवासिनां कुत्रचित् पुरातन-कथाप्रबन्धादिश्रवणे मृत्योर्मरणस्य वार्त्ता 'श्रवणपथगा'-श्रोत्रग्राह्या वर्त्तते । तथा च पुनर्यत्र खलु-निश्चयेन वित्तेशाना-धनेश्वराणा यौवनात्तारुण्यादन्यद्वयो नास्ति । किंभूताना वित्तेशाना ? 'कामक्रीडारससुखजुषां' कामक्रीडारसस्य-मनोभवकेलिरसस्य यत्सुख तज्जुषन्ते-सेवन्त इति कामक्रीडारससुखजुषस्तेषां । पुन· किम्भूताना ? अर्थिकामान्-याचकमनोरथान्यचछता-धातूनामनेकार्थत्वा-त्पूरयताम् ॥ ७० ॥

कर्णे जातिप्रसवममलं केतकं केशपाशे,
कस्तूरीभिः कृतविरचनागल्लयोः पत्रवल्ली
कण्ठे माला ग्रथितकुटजा मण्डनं भावि काम्यं,
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥७१॥

हे नाथ ! यस्या पुर्य्या वधूना त्वदुपगमजं-भवदागमसमयसभवं काम्य-मभिलषणीय मण्डनं-प्रसाधनं भावि-भविष्यति । तत्किं ? अमलं-निर्मलं, कर्णे जातिप्रसव-जातिपुष्पं । तथा केशपाशे-केशकलापे केतकं-केतकीपुष्पं । तथा वधूना गल्लयोर्गण्डयो कस्तूरीभिः कृतविरचना-विहितमकर्य्यादिरूपरचना पत्रवल्ली-पत्रलता, तथा कण्ठे 'ग्रथितकुटजा' ग्रथितानि कुटजानि-कुटजपुष्पाणि यस्या सा । तथाविधामालास्रक् । तथा च पुन सीमन्ते केशमार्गे नीप-कदम्बकुसुमं, [illegible] सर्वमपि मण्डनं वधूना त्वद्गमनेन भविष्यतीति भावः ॥ ७१ ॥

[illegible]स्यां रम्यं युवजनमनोहारिवारांगनानां,
[illegible] लास्यं तालानुमतकरणं भास्यति त्वत्प्रवेशे ।
[illegible]च्छन्तीनां तदवगमनानन्दभाजां प्रसादं,
[illegible] त्वद्गंभीरध्वनिषु शनकैःपुष्करेष्वाहतेषु ॥ ७२ ॥

हे नाथ ! यस्या-द्वारिकाया त्वत्प्रवेशे वाराङ्गनाना-पण्याङ्गनाना रम्य-प्रधानं [illegible]यं नाट्य भास्यति-शोभिष्यते । केषु ? सत्सु पुष्करेषु-तूर्यमुखेषु । यदने-"पुष्कर तूर्यमुखे पद्मे च" इत्यादि । आहतेषु-वाद्यमानेषु, सत्सु कथं ?

शनकैर्मन्द मन्दं । किल नर्त्तनावसरे कठोररवो न घटते । किम्भूतेषु ? 'गम्भीरध्वनिषु' गम्भीरो-गुरुतरो ध्वनिर्येषु तेषु । किंभूतं लास्य ? 'युवजनमनोहारि' युवजनाना-तरुणलोकाना मनासि हरतीति यत्तत्तथा । पुनः किंभूत ? 'तालानुगतकरणं' तालश्चच्चपुटादिस्तेनानुगत-सम्बद्ध करण गीतभेदः अगहारभेदो वा, स्थिरहस्तपर्यस्ततारकादिद्वात्रिंशत्प्रकारो यस्मिन्तत्तथा । किंभूताना वारांगनाना ? 'तदवगमनानन्दभाजा' तस्य-लास्यस्य यदवगमन-ज्ञान तेनानन्द-प्रमोद भजन्तीति तदवगमनानन्दभाजस्तासा । पुनः किम्भूताना ? त्वद्भवतः सकाशात्प्रमाद् अनुनय वाञ्छन्तीनाम् ॥ ७२ ॥

संसक्तानां नवरतरसे कामिभिः कुट्टिमानां,
प्रष्ठेष्वंतः कृतविरचना घर्म्मवार्यंगनानाम् ।
यस्यां ग्रीष्मे शिशिरकिरणस्यांशुभिर्यामिनीषु
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यंदिनश्चन्द्रकान्ताः ॥७३॥

हे नाथ ! यस्या-द्वारिकाया-अङ्गनाना घर्मवारि-परिस्वेदजलं ग्रीष्मे-उष्णकाले यामिनीषु चन्द्रकान्ताश्चन्द्रमणयः व्यालुम्पन्ति-स्फेटयन्ति । किम्भूताश्चन्द्रकान्ता ? शिशिरकिरणस्य-चन्द्रस्य अंशुभिः-किरणैः 'स्फुटजललवस्यंदिन' स्फुटं-प्रकट जललवान-पानीयबिन्दून् स्यन्दन्ते-क्षरन्तीति, स्फुटजललवस्यन्दिनः । किम्भूतानामङ्गनाना ? नवरतरसे-नवीनसम्भोगरसे, संसक्तानामासक्ताना । किम्भूताश्चन्द्रकान्ताः ? कामिभिः-कामुकैः कुट्टिमाना-पाषाणादिबद्धभूमीना पृष्ठेषु-अन्तर्मध्ये 'कृतविरचनाः' कृत-विहित विरचनं येषां ते तथा ॥ ७३ ॥

गत्वा यूनां रजनि समये धूप्यमानेषु लीला-
वेश्मस्वन्तर्युवतिनिहितै रत्नदीपैर्निरस्ताः ।
जालैर्यत्रावतमसचयाः साध्वसेनेव भूयो,
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः जर्जरा निष्पतन्ति ॥७४॥

हे नाथ ! यत्र द्वारिकाया रजनि समये अवतमसचया-अन्धकारसमूहा यूना-तरुणाना धूप्यमानेपु-लीलावेश्मसु गत्वा जालैर्गवाक्षमार्गैर्भूयः-पुनर्जर्जरीभूताः शतशः स्फुटिता सन्तो निष्पतन्ति-निर्गच्छन्ति । किम्भूता अवतमसचयाः ? 'धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः' धूमस्य उद्गारः-निस्सारस्तस्य या अनुकृतिरनुकारस्तस्मिन विषये निपुणाः-दक्षाः । किल धूमोद्गारादिजालविवरैर्जर्जरीभूय निर्गच्छति । तथा अमी अपि । उत्प्रेक्ष्यते-साध्वसेनेव-भयेनेव अन्योपि यः किल परेषा गृहे दोषमुत्पादयति । स खलु भयत्रस्तो गवाक्षादिविवरेभ्यो झंपा ददाति, निष्पतितश्च जर्जरी भवति । पुनः किम्भूता ? 'अन्तर्युवतिनिहितैः' अन्तर्वासगृहाणा मध्ये युवतीभिः-स्त्रीभिर्निहितैर्न्यस्तै रत्नैः रत्नदीपस्तैर्निरस्ता-अपाकृताः ॥ ७८ ॥

रात्रौ यस्यामुपसखिभृशं गात्रसंकोचभाजां,
रागेणान्धैः शयनभुवनेपूल्लसद्दीपवत्सु ।
प्रेम्णा कान्तैरभिकुचयुगं हृद्यगन्धिर्वधूनां,
ह्रीमूढानां भवति विफलः प्रेरितश्चूर्णमुष्टिः ॥७९॥

हे नाथ ! यस्या द्वारिकाया शयनभवनेपु-वासगृहेपु रात्रौ रागेणान्धैः कान्तैः-प्रियतमैः प्रेम्णा-स्नेहेन वधूनामभिकुचयुग-स्तनयुगमसन्मुख प्रेरितश्चूर्णमुष्टिश्चूर्णं-पटवासादिसुगन्धद्रव्य तस्य मुष्टिर्विफलो-निष्फलो भवति, तासा कुचयुगे न लगतीत्यर्थः । किम्भूतेपु शयनभवनेपु ? 'उल्लसद्दीपवत्सु' उल्लसन्तः प्रभाभिर्देदीप्यमाना ये दीपास्ते विद्यन्ते येपु तेपु, उल्लसद्दीपवत्सु । किम्भूताना वधूना ? ह्रीमूढाना-त्रपातरलिताना, अत्र ह्रीमूढत्वकारणगर्भित तासा विशेषणमाह । पुनः किम्भूताना ? भृशमत्यर्थं, 'उपसखि' सख्या उपसमीपे इति उपसखि 'गात्रसकोचभाजा' गात्रसकोच भजन्तीति गात्रसङ्कोचभाजस्तासा । किल तासा-सन्निहितसखीना प्रदीपप्रभयावलोकनाल्लज्जया गात्रसंकोचो भवति । ततश्च यावता कान्तैः प्रेर्यते चूर्णमुष्टिस्तावता ताभिः स्याङ्ग सकोचित ततश्चूर्णमुष्टिर्विफलो भवतीति भावार्थः । किम्भूतो ? हृद्यगन्धिः-प्रधानामोदः ॥ ७९ ॥

गायन्तीभिस्तदमलयशो वारसीमन्तिनीभिः,
सार्कं वाद्यन्मधुरमरुजं तारनादान्यपुष्टम् ।
यस्यां रम्यं सुरभिसमये सोत्सवाः सीरिमुख्या,
बद्धापानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥७६॥

हे नाथ ! यस्या-द्वारिकाया बहिरुपवन-बाह्योद्यान सुरभिसमये-वसन्तकाले सीरिमुख्या-बलप्रमुखा कामिनो निर्विशन्ति-उपभुञ्जते । कथ ? यथा भवति । 'बद्धापानं' बद्धमापान-मद्यपान यत्र तद्बद्धापानं बद्धगोष्ठि यथा स्यात्तथा । कथ निर्विशन्ति ? वारसीमन्तिनीभिः-पण्यागनाभिः सार्द्धं, किकुर्वन्तीभिस्त्वदमल-यशस्तव अमल यद्यशस्तद्गायन्तीभि. । किम्भूतमुपवन ? 'वाद्यन्मधुरमरुज' वाद्यन्मधुर -श्रवणानुकूलो मरुजो यस्मिन्तत । पुनः किम्भूत ? 'तारनादान्य-पुष्ट' तारनादा-उच्चैःशब्दा अन्यपुष्टा -कोकिला यस्मिन्तत् । पुनः किम्भूत ? रम्य-प्रधान् । किम्भूतास्ते ? सोत्सवाः समहा. ॥ ७६ ॥

उद्यत्कामालसयुवतिभिः सेव्यमानैः सरोजो-
द्गन्धान् यस्यां सुमधुररसानैक्षवानापिबद्भिः ।
निर्गम्यन्ते शरदि यदुभिः सद्मपृष्ठेषु कीर्त्या,
नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमो वृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥७७॥

हे नाथ ! यस्या-द्वारिकाया शरदि-घनात्यये यदुभिर्यादवै सद्मपृष्ठेषु-मन्दिरोपरिभागेषु प्रदोषरजनीमुखानि निर्गम्यन्ते-अतिवाह्यन्ते । किम्भूताः प्रदोषाः ? 'कीर्त्या नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमो वृत्तिरम्याः' कीर्तिरेव धवलत्वा-दाममन्तान्नित्यं-अनवरत या ज्योत्स्ना-कौमुदी तया प्रतिहता या तमोवृत्तिः-अन्धकारवृत्तिस्तया रम्याश्चारव. । किम्भूतैर्यदुभि ? 'उद्यत्कामालसयुवतिभिः' उद्यन्-उदय प्राप्नुवन योसौ कामस्तेनालसा या युवतयस्ताभि सेव्यमानै । किंकुर्वद्भि ? 'ऐक्षवान्' इक्षोरिमे विकारा ऐक्षवास्तान्, सुमधुररसान्-अतिशयेन मृष्टरसान् आपिबद्भिरासमन्तात्पान कुर्वद्भि । किम्भूतानैक्षवान् ? 'सरो-

जीवन्धान् सरोजगन्धमुत्क्रम्य गन्धो येषां ते सरोजोद्गन्धास्तान् ।
वादित्वा" न्मध्यमपदलोप ॥ ७७ ॥

कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये कुंकुमालिप्त____,
सान्द्रच्छाये शुचिनि तरुभिर्गोमतीरम्यतीरे ।
रूपोल्लासाद्विजितरतयः कन्दुकाभैः सलीलं,
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥७८॥

हे नाथ ! यत्र यस्या-द्वारिकाया गोमतीरम्यतीरे कन्या सलील-लीलया-सहित यथास्यात्तथा संक्रीडन्ते । कैर्मणिभिः । किम्भूतैः ? 'कन्दुकाभै' कन्दुकवदाभान्ति-शोभन्त इति कन्दुकाभास्तै । किम्भूताः कन्या ? अमरप्रार्थिता रूपातिशयाद्देवैरभिलषिता, देवा एव तासां पतित्वमर्हन्ति न मानवा इति भावः । पुनः किम्भूता ? 'कौन्दोत्तंसाः' कुन्दस्यायं कौन्द स उत्तम-शेखरो यासां ता. कौन्दोत्तंसाः । क ? तुहिनसमये-हेमन्तकाले । पुन किम्भूताः ? 'कुङ्कुमालिप्तदेहाः' कुङ्कुमेन-घुसृणेन आलिप्तो देहो यासां ता । पुन किम्भूताः ? 'रूपोल्लासाद्विजितरतयः' अतिशायिरूपविलासात विजिता रति -कामस्त्री याभिस्ता । किम्भूते गोमतीतीरे ? तरुभिर्वृक्षैः 'सान्द्रच्छाये' सान्द्रा-निरंतरा छाया यस्मिंस्तस्मिन्सान्द्रच्छाये । पुन किम्भूते शुचिनि-पवित्रे ॥ ७

यस्यां पुष्पोपचयममलं भूषणं सीधुहृद्यं,
गन्धद्रव्यं वसननिवहं सूक्ष्ममिच्छानुकूलम्
न्यस्तः प्रीत्या त्रिदशपतिना वासुदेवस्य वेश्म-
न्येकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥७९॥

हे नाथे ! यस्या-द्वारिकायामेक कल्पवृक्षः सकलमबलामण्डन सूते-जनयति । क ? वासुदेवस्य-विष्णोर्वेश्मनि । किं ? तत् पुष्पोपचयं अमल भूषण तथा गन्धद्रव्यं-सुरभिवस्तु । किम्भूतं ? सीधुहृद्यं सीधुवदासववन्मनोहर । तथा सूक्ष्म तनुतंरतन्तुनिर्मित इच्छानुकूलं वसननिवहं-वस्त्रसमूह । किम्भूतः कल्पवृक्ष ? त्रिदशपतिना-इन्द्रेण प्रीत्या-आनन्देन न्यस्त -संस्थापितः ॥ ७९ ॥

एणांकाश्मावनिषु शिशिरे कुंकुमार्द्रैः पदांकैः,
शीतोत्कंपाद्गतिविगलितैर्वालकैः केशपाशात् ।
भ्रष्टैः पीनस्तनपरिसराद्रोध्रमाल्यैश्च यस्यां,
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥८०॥

हे नाथ ! यस्या—द्वारिकाया कामिनीना नैशो मार्गः सवितुः—सूर्य उदये सूच्यते । अनेकनिपतितवालकाद्यलङ्कारदर्शनेन कामुकनिकेतनगमनानि युक्तकामिनीजनसचरणसरणि. प्रातर्लोकैरनुमीयत इति भावः । कैः ? कैस्तदा शिशिरे एणाङ्काश्मावनिषु—चन्द्रकान्तमणिनिबद्धभूमिषु कुंकुमार्द्रैर्घुसृणलिप्तैः पदाङ्कैश्चरणचिन्हैः । तथा 'शीतोत्कम्पात्' शीतेन—उदग्राबल्येन य कम्प शरीरचलन तस्मात् । गतिविगलितैर्गतिरवस्थाविशेषस्तया विगलितैः—पतितैः कस्मात् ? केशपाशात् । कैर्वालकैर्हीरैश्च, पुनः पीनस्तनपरिसराद्भ्रष्टैः रोध्रमाल्यैरेवममीभिरेवचिन्हैः कामिनीना नैशो मार्गः सूच्यत इति ॥ ८

बाणस्याजौ हरविजयिनो वासुदेवस्य यस्यां,
प्राप्यासत्तिं चरति गतभीः पुष्पचापो निरस्त्रः
यस्माद्धेला कृतयुवमनोमोहनाप्तप्रकर्षै—
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥८१॥

हे नाथ ! यस्या-द्वारिकाया हरविजयिनः—शम्भु जेतुर्बाणस्य आजो-सम्रामे वासुदेवस्य आसत्ति—नैकट्य प्राप्य—लब्ध्वा पुष्पचापः—कामो यस्माद्धेतोर्निरस्त्रोऽस्त्ररहितश्चरति—विहरति । किंभूत मन ? 'गतभीः' गता भीर्भय यस्म त्स गतभयत्वे कामस्य हेतुः सर्ववैरिविजेत्राजिनिविष्टकेशवासन्नावस्थायित्व मिति । तस्मात्तस्य-कामस्य आरम्भः कृत्यविधिश्चतुरवनिताविभ्रमैश्चतुरा—विदग्धाश्च ता वनिताश्चतुरवनितास्तासा विभ्रमा—विलासास्तैरेव सिद्ध —निष्पन्न । किंभूतैस्तैर्हेलाकृतयुवमनोमोहनाप्तप्रकर्षैः हेलया कृत यद्युवमनोमोहन—तरुणचेतोरञ्जनं तेनाप्तः—प्रकर्ष आधिक्य यैस्ते तै ॥ ८१ ॥

यायास्तस्मादथ परिवृतस्त्वं प्रवेशाय तस्यां,
तत्प्राचीनं पुरि हरिमुखैर्गोपुरं यादवेन्द्रैः
यत्राशोकः कलयति नवस्तोरणाभां तथान्यो—
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥८२॥

हे नाथ ! अथेत्यनन्तर तस्मात्प्रदेशात्तस्या–द्वारिकाया पुरि प्रवेशाय-प्रवेशार्थं तत्प्राचीन, गमननिर्गमनानुभूत गोपुर-पूर्द्वार यायाः–गच्छेः । किंभूत सन ? हरिमुखै,–विष्णुप्रमुखैर्यादवेन्द्रै परिवृतः–आश्रित सन । तदिति किं ? यत्र यस्मिन्गोपुरे नव अशोकस्तोरणाभां वहिर्द्वारशोभा कलयति–वहति । तथा अन्योपि द्वितीयो 'हस्तप्राप्यस्तवकनमितः'–हस्ताभ्या प्राप्या ये स्तवका.–पुष्पसंघातास्तैर्विनतो–विनम्रीभूतो बालमन्दारवृक्षो–देवद्रुमस्तोरणाभा विभर्त्ति इति ॥ ८२ ॥

उद्यद्वालव्यजनमनिलोल्लासिकासप्रसूनाः,
श्वेतच्छत्रं विकसितसिताम्भोजभाजो विलोक्य
तस्यां पौरा विशदयशसं न श्रियः शारदीना,
न ध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्यहंसाः ॥८३॥

हे नाथ ! तस्या-द्वारिकाया पौरा–नागरिकास्त्वां विलोक्य–दृष्ट्वा 'शारदीनाः–शरत्कालसम्बन्धिनीः श्रियो–लक्ष्मीरपि न ध्यास्यन्ति–न स्मरिष्यन्ति । किंभूता. पौरा ? 'व्यपगतशुचः' व्यपगता–त्वद्विरहसमुत्था शुक्–शोको येषा ते व्यपगतशुचः । अथोभयोः पृथक् २ विशेषणैः साम्य दर्शयति । किंभूतं त्वा ? 'उद्यद्वालव्यजन' उद्यन्ती–पार्श्वयोश्चलन्तीर्वालव्यजने–चामरे यस्य स त । किंभूताः श्रियः ? 'अनिलोल्लासिकासप्रसूनाः' अनिलेन–वायुना उल्लासीनि–नर्त्तनोद्यतानि कासप्रसूनानि–कासपुष्पाणि यासु ताः । किंभूतं त्वा ? 'श्वेतच्छत्र' श्वेतानि छत्राणि यस्य स तं । किंभूताः श्रियः ? 'विकसितसिताम्भोजभाज.' विकसितानि-प्रफुल्लानि यान्यम्भोजानि तानि भजन्ते यास्ता विकसितसिताम्भोजभाजः । किंभूतं त्वा ? 'विशदयशस' विशदं-निर्मल यशो यस्य स

त । किम्भूतास्ता. ? 'प्रेक्ष्यहसाः' प्रेक्ष्याः-प्रकर्षेण दर्शनीया हसा यासु ताः प्रेक्ष्य हसा , शरदि विशदजलाश्रयत्वाद्धंसागमन ॥ ८३ ॥

पुष्पाकीर्णं पुरि सह तदा यस्त्वया राजमार्गं,
यास्यत्युद्यद् ध्वजनिवसनं चन्दनांभश्छटाङ्कम् ।
शौरिं पीताम्बरधरमनु क्ष्माधरे मेघमेनं,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥८४॥

हे नाथ ! पुरि—द्वारिकाया यः—पीताम्बरधर शौरिस्तदा पुरप्रवेशोत्सवे त्वया सह राजमार्गं यास्यति । त्वा भवन्तमनुलक्षीकृत्य तदनुगामित्वेनेत्यर्थः । तमेव पीताम्बरधर शौरिं—विष्णु अहं स्मरामीति—स्मरिष्यामि । "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" इति वचनाद्भविष्यति वर्त्तमानता । किंकृत्वा ? क्ष्माधरे—गिरौ 'उपान्तस्फुरिततडित' उपान्ते—पर्यन्ते स्फुरिता—उल्लसिता तडिद्यस्य स उपान्तस्फुरिततडितमेन मेघ प्रेक्ष्यावलोक्य । किम्भूतं राजमार्गं ? 'उद्यद्ध्वजनिवमन उद्यन्ति—उच्छलन्ति ध्वजाना निवमनानि वस्त्राणि यस्मिन्स पुनः किम्भूत ? 'चन्दनाम्भश्छटाकं' चन्दनाम्भसा याश्छटास्तासामङ्कश्चिह्नं ते यस्मिन्स त ॥ ८४ ॥

यान्तं तस्यां पुरि हरिबलावुत्सवैः कामिनौ त्वां,
हर्षोत्कर्षं नरपतिपथे नेष्यतस्तौ ययोस्तु ।
स्त्रीणामेको रमयति शतान्यङ्गनां पाययित्वा—
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥८५॥

हे नाथ ! तस्या पुरि—द्वारिकाया यान्तं-गच्छन्त त्वा तौ उत्सवैस्त्वत्प्रवेशमहैः कामिनौ-हरिबलौ हर्षोत्कर्षं यथास्यात्तथा नरपतिपथे-राजमार्गे नेष्यत प्रापयिष्यतः । ताविति कौ ? ययोर्हरिबलयोर्मध्ये एको हरिः स्त्रीणा शतानि रमयति—विनोदयति । अन्यो बलदेवः काञ्चिदङ्गना पतिपाययित्वा मदिरामिति शेषः । अस्या वदनमदिराङ्गडूषमिव वाञ्छति-वाञ्छति । केन ? 'दोहदच्छद्मन

सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तर्व्यतीत्य,
स्वावासं तं मणिचयरुचा भासुरं प्राप्स्यसि
यस्मिन्कस्मै भवति न मुदे साग्रभूमिर्घनानां,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥८६॥

हे नाथ ! त्वं सौधश्रेणीर्नृपमन्दिरराजीर्विततविलसत्तोरणान्तः वितता-विस्तीर्णानि विलसन्ति आदर्शादिभिर्विराजन्ति यानि-तोरणानि तेषाम-न्तर्मध्ये व्यतीत्यातिक्रम्य तं स्वावास-निजसौधं प्राप्स्यसि । किम्भूतं स्वावासं ? 'मणिचयरुचा' चन्द्रकान्तादिमणिसमूहकान्त्या भासुर-देदीप्यमानं । तमिति कं ? यस्मिन्स्वावासे सा-अग्रभूमिः कस्मै-पुरुषाय मुदे-हर्षाय न भवति । सेति-कां? यामग्रभूमिं दिवसविगमे-सन्ध्यासमये घनानां-मेघानां सुहृन्मित्रं वो-युष्माकं नीलकण्ठो-मयूरः अध्यास्ते-अधिवसति ॥ ८६ ॥

नत्वा पूर्वं पितृमुखगुरून् तान्विसृज्याथ बन्धून्
सौधं मां च द्वयमपि ततोऽलंकुरुष्वार्द्रचित्तः
यन्निःश्रीकं हरति न मनस्त्वां विना यादवेन्दो,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥८७॥

हे यादवेन्दो ! त्वं पूर्वं तान्-'पितृमुखगुरून्' पितरौ मुखे आदौ येषां ते पितृमुखास्ते च ते गुरवश्च गरिष्ठास्तान् अन्यबन्धूनपरस्वजनान् नत्वा, विसृज्य स्वगृहगमनायादिश्य । ततः पश्चात् आर्द्रचित्तः-सकरुणः सन् सौधं-स्वावास-भवनं मां च द्वयमपि अलंकुरुष्व-विभूषय । यद्द्वयं त्वां विना निःश्रीकं-गतल-क्ष्मीकं सज्जनानां मनो न हरति-न चोरयति, अमुमेवार्थं द्रढयति । सूर्यापाये सूर्यस्यापायो विरहः च अस्तावाद्दुर्दिन उपरागो वा, तदभिभूते रवौ न खलु कमलं स्वां स्वकीयां यथावस्थितामभिख्यां श्रियं पुष्यति-पुष्णाति । तथैतद्द्वय-मपि । अर्थान्तरन्यास । अत्र पुष च पुष्टौ दैवादिको धातुर्ज्ञेयः । यथास्यं-निरढ्ये-"तृष्णा न पुष्णाति यशांसि पुष्यती" त्यादि ॥८७॥

इत्युक्तेस्या वचनविमुखं मुक्तिकान्तानुरक्तं,
दृष्ट्वा नेमिं किल जलधरः सन्निधौ भूधरस्थः
तत्कारुण्यादिव नवजलाश्रानुविद्धां स्म धत्ते,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥८८॥

इति अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण विज्ञप्तिवाक्ये उक्ते सति, सन्निधौ श्रीनेमेः समीपे भूधरस्थो जलधरः, किलेति सभावने। अस्या-राजीमत्या वचनविमुखं-चो नादरेण नेमिं दृष्ट्वा नवजलाश्रानुविद्धा-नवजलान्येवाश्राणि तैरनुविद्धा-योप्ता 'विद्युदुन्मेषदृष्टिं' विद्युत-उन्मेषः स्फुरणं-प्रकाशकत्वात् स एव दृष्टिस्ता स्तेस्म-अदधत-अरोदीदिवेत्यर्थः। उत्प्रेक्षते-'तत्कारुण्यादिव' तस्या-राजीमत्या उपरि यत्कारुण्य-करुणा तस्मादिव। किंभूत नेमिं ? 'मुक्तिकान्तानुरक्तं' मुक्तिकान्तायामनुरक्तोऽनुरागवान् यः स त। किंभूता विद्युदुन्मेषदृष्टिं ? 'खद्योतालीविलसितनिभा' खद्योताना-ज्योतिरिंगणाना या आली-श्रेणिस्तस्या यद्विलसित तन्निभा-तत्तुल्या ॥ ८८ ॥

तत्सख्यूचे तमथवचनं वाञ्छितं साधयास्या,
बालामेनां नय निजगृहं शैलशृङ्गं विहाय।
त्वत्संयोगान्ननु धृतिसमेतानवद्यांगयष्टि-
र्या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ ८९ ॥

अथेत्यनन्तरं सखी तं-नेमिं तद्वचनं ऊचे। ब्रू धातोर्द्विकर्मकत्वात्कर्मद्वयं। तदिति किं ? हे नाथ! अस्या-राजीमत्या वाञ्छितमभिलषितं साधय। तथा शैलशृङ्ग-उज्जयन्ताद्रिशिखर विहाय एना-बाला अपरिणीतत्वात्-निजगृह नय-प्रापय। एनामिति का ? या तत्र स्वगृहे त्वत्सयोगात्-त्वन्मिलनान् ननु-निश्चित धृतिसमेता-सन्तोषवती स्यात्। किम्भूता ? 'अनवद्यांगयष्टिः' अनवद्या-निष्पापा अंगयष्टिर्यस्याः सा। उत्प्रेक्षते-युवतिविषये स्त्रीलक्षणपदार्थनिर्माणे धातुर्ब्रह्मण आद्या सृष्टिरिव। प्रथममेना मूलपातिं निर्माय ब्रह्मणा तदीय निर्माणसमुत्पन्न-प्रयासनिर्विण्णेन तत्प्रतिच्छन्दक एव निर्मितः समस्तोऽप्यपरनारीजन इति ॥८६॥

अस्वीकारात्सुभग भवतः क्लिष्टशोभां कियद्भि-
र्मुद्धीमन्तर्विरहशिखिना वासरैर्दह्यमानाम् ।
एनां शुष्यद्वदनकमलां दूरविध्वस्तपात्रां,
जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीवान्यरूपाम् ॥९०॥

हे सुभग ! मुद्धीं एनां—बालां भवतस्तव अस्वीकारादनङ्गीकारात् क्लिष्टशोभा—म्लानच्छाया कियद्भिर्वासरैरन्तर्विरहशिखिना—अन्तश्चित्ते विरह एव शिखी-वह्निरन्तर्विरहशिखी, तेन दह्यमाना अन्यरूपा जाता मन्ये । परिम्लानदेहलावण्यतया परावर्त्तितरूपामिवानुपलक्षणीयामित्यर्थः । किम्भूतामेनां ? 'शुष्यद्वदनकमलां' शुष्यच्छोषं प्राप्नुवद्वदनकमलं यस्याः सा तां । पुनः किम्भूतां ? 'दूरविध्वस्तपात्रां' दूरेण विध्वस्तान्यपनीतानि पात्राणि नाट्यानुकर्त्तारो यथा सा तां । कामिव ? 'तुहिनमथितां' तुहिनं—हिमं तेन मथिता तां । वा इवार्थे । पद्मिनीमिव, पद्मिन्यपि शुष्यद्वदनकमला भवति । शुष्यद्वदने-मुखे कमलं यस्याः सा तथा । दूरविध्वस्तपात्रा, पत्राणां समूहः पात्रं, अथवा पर्णामिधानं पात्रं, दूरेण विध्वस्तं पात्रं यस्याः सा, ईदृग्विधा भवतीति । "पात्राणुकृत्तृशोर्मध्ये, पर्णे नृपति मन्त्रिणी"—इत्यनेकार्थोक्तेः ॥ ९० ॥

आकांक्षन्त्या मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि सख्याः,
पश्यामुष्या मुखमनुदितं म्लानमस्मेरमक्षि ।
उद्यत्तापात्कुमुदमिव ते कैरविण्या वियोगा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्त्ति ॥ ९१ ॥

सखी स्वामिनं वक्ति—हे नाथ ! त्वं पश्य । यस्या अमुष्या राजीमत्या उद्यत्तापाद्दैन्यं लक्षणया विच्छायत्वं बिभर्त्ति—धारयति । किंकुर्वन्त्या यस्याः ? तव 'मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि' मृदू-सुकुमारौ यौ—करौ तयोर्यानि परिष्वंगसौख्यान्याश्लेषसुखानि तानि आकांक्षन्त्याः-वाञ्छन्त्याः । पुनः किम्भूतायास्त्वदनुसरणक्लिष्टकान्ते तव यत अनुसरणं पर्वतान्तर्निवासित्वेन तिरोधानं, तेन क्लिष्टाग्लपिता कान्तिर्यस्याः सा तस्या । किंभूतं मुखं ? अनुदितं-शोभया अप्रा-

मोदर्यं । पुनः कथम्भूतं ? म्लानं । पुनः किंभूतमस्मेरं-अविकस्वरं । पुनः कथम्भूतमस्रि-अस्राणि वियन्ते यस्मिंस्तत् । किमिव ? कैरविण्याः-कुमुद्वत्याः, कुमुदमिव । यथा-इन्दोर्वियोगात् कैरविण्याः-कुमुदं दैन्य-परिम्लानच्छायां बिभर्त्ति । अनुदितादीनि विशेषणानि कुमुदस्यापि योज्यानीति ॥ ९१ ॥

शय्योत्संगे निशि पितृगृहे प्राप्य निद्रां पुराऽसौ,
त्वं क ? स्वामिन् ! व्रजसि सहसेति ब्रुवाणा प्रबुद्धा ।
ऊचेऽस्माभिर्न खलु नयनेनापि येनेक्षितासीः,
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ ९२ ॥

हे नाथ ! असौ-राजीमती पितृगृहे-जनकमन्दिरे पुरा निशि-रा शय्योत्संगे-तल्पोपरि निद्रां प्राप्य इति ब्रुवाणा-इति वदन्ती प्रबुद्धा-जजागार इतीति किं ? हे स्वामिन् ! सहसा अनुक्त्वैव क्व व्रजसि ? । तदानीमस्मा सखीभिरूचे-हे रसिके ! गुणानुरागिणि, यद्वा सुखदुःखास्वादवेदिनि । यदने कार्थः-"रस स्वादे जले वीर्ये, शृङ्गारादौ विषे द्रवे । बले रागे देह धातौ, पारदे" इत्यादि । कच्चिदिति-कोमलामन्त्रणे, येन-प्रियेण त्वं नयनेनापि न खलु ईक्षि तासीः । तस्य भर्तुः स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणि षष्ठी । तं भर्तारं-स्वामिनं प्रिये स्मरसि ॥ ९२ ॥

एतद्दुःखापनयरसिके प्राक् सखीनां समाजे,
गायत्येषा किमपि मधुरं गीतमादाय वीणाम् ।
त्वद्ध्यानेनापहृतहृदया गातुकामा ललज्जे,
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती ॥ ९३ ॥

हे नाथ ! सखीनां समाजे-समूहे प्राक्-पूर्वं 'कितवमधुरं' कितवेन निर्देश भावप्रधानत्वात् कितवतया-धूर्ततया मधुरं-मृष्टं गीतं गायति सति, एषा-बाला वीणा मादाय गातुकामा ललज्जे । किंभूते सखीसमाजे ? 'एतद्दुःखापनयरसिके' एतस्य राजीमत्या यद्दुःखं विरहजा-व्यथा तस्यापनयः-स्फेटनं, तत्र रसिको-रागव

यः स तस्मिन् । किंभूता एषा ? त्वद्ध्यानेन-त्वत्स्मरणेन 'अपहृतहृदया' अपहृतं हृदय-चेतो यस्याः सा तथा । पुनः किंकुर्वती ? भूयोःभूयः-पुनः पुनः स्वयमपि कृता मूर्छना-स्वरसारणा "सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा, मूर्छनास्त्वेकविंशति । स्थानान्येकोनपचाशद्, एतद्गीतस्य लक्षणम् ॥" मनस शून्यत्वाद्विस्मरन्ती ॥६३॥

त्वत्प्राप्त्यर्थं विरचितवती तत्र सौभाग्यदेव्याः,
पूजामेषा सुरभिकुसुमैरेकचित्ता मुहूर्त्तम् ।
दैवज्ञान् वा नयति निपुणान् स्म क्षणं भाषयन्ती,
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः ॥ ९४ ॥

हे नाथ ! तत्र द्वारिकाया एषा-बाला त्वत्प्राप्त्यर्थं मुहूर्तं यावत् सौभाग्यदेव्या सुरभिकुसुमै -सुगन्धिपुष्पैः पूजा एकचित्ता-एकाग्रमनाः सती विरचितवती-कृतवती । वात्र चार्थः, वा-पुनः निपुणान् त्रिकालवेदिनो दैवज्ञान-ज्योतिषिकान् भाषयन्ती-वादयन्ती । क्षणं-कालविशेषं नयतिस्म । हि-यस्माद्रमणविरहे प्रायेणाङ्गनानामेते विनोदादि न गमनिका केलयो भवन्ति ॥६४॥

याते पाणिग्रहणसमयेऽद्रिं विहाय त्वयी मां,
त्यक्त्वा माल्यं सपदि रचिता या त्वया प्राग्वियोगे
तामेवैषा वहति शिरसा स्वे निधाय प्रदेशे,
गल्लाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ।

हे नाथ ! पाणिग्रहणसमये-विवाहकाले त्वयि इमा-बालां विहाय अद्रिं रैवतकगिरिं प्रतियाते-गते सति सपदि शीघ्र माल्यं-माला त्यक्त्वा एकवेण तया बालया प्राक्-पूर्वं वियोगे-त्वद्विरहे रचिता तामेवैकवेणी एकैव वेणी न पुनर्विमुत्य विमुत्य-ग्रथिता, प्रथमदिवसग्रथितवेत्येकशब्दाभिप्राय । ता करेण स्वे प्रदेशे-निजे शिरोभागे निधाय-संस्थाप्य शिरसा वहति । किंभूतामेकवेणीं ? गल्लाभोगाद्गण्डाभोगात् कठिनविषमा-कठोरनिम्नोन्नताम् ॥ ६५ ॥

गीताद्यैर्वा श्रुतिसुखकरैः प्रस्तुतैर्वा विनोदैः,
पौराणीभिः कृशतनुमिमां त्वद्वियोगात्कथाभिः ।

तुष्टिं नेतुं रजनिषु पुनर्नालिवर्गः-क्षमोभूत् ,
तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः ॥ ९६ ॥

हे नाथ ! अलिवर्गः-सखीसमूहस्त्वद्वियोगात् कृशतनु-दुर्बलदेहा तामिमा बाला रजनिषु तुष्टिं-प्रीतिं नेतु पुनः क्षमः समर्थो नाभूत् । कैः ? कैरित्याह-गीताद्यैः । किंभूतैः ? श्रुतिसुखकरैः-श्रवणप्रीतिकारिभिस्तथा, द्वावपि व शब्दौ चार्थौं, वा-पुन. प्रस्तुतैः-प्रस्तावोचितैर्विनोदैः-विनोदवाक्यैः तथा । वा-पुनः पौराणीभिः-पुराणसम्बन्धिनीभिः कथाभिः । किम्भूता तामुन्निद्रा-विरहजागरा । किम्भूतोऽलिवर्गः ? 'अवनिशयनासन्नवातायनस्थ' अवनौ-पृथिव्या शयनं अवनिशयनं, तत्र आसन्नो-निकटवर्ती योसौ वातायनो-गवाक्षस्तत्र तिष्ठतीति अवनिशयनासन्नवातायनस्थः ॥ ९६ ॥

या प्रागस्याः क्षणमिव नवैर्गीतवार्त्ताविनोदै—
रासीत् शय्यातलविगलितैर्गल्लभागो विलंघ्य ।
रात्रिं संवत्सरशतसमां त्वत्कृते तप्तगात्री,
तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्यापयन्ती ॥ ९७

हे नाथ ! अस्या—बालायाः प्राक् बाल्यावस्थाया नवैर्गीतवार्त्ताविनोद-गीतानि च गायनोद्गातानि वार्त्ताश्च पुरा भवा विनोदाश्च तैर्या रात्रिः क्षणमिवासीत् । तामेव रात्रिं सवत्सरशतमिता—वर्षशतमिता त्वत्कृते—त्वदर्थं तप्तगात्री विरहसन्तप्तदेहा राजीमती विरहजनितैर्वियोगोत्पादितैरुष्णैरश्रुभिर्यापयन्ती-अतिवाहयन्ती वर्त्तते । किम्भूतैरश्रुभिर्गल्लभागो विलघ्यातिक्रम्य 'शय्यातलविगलितैः' शय्यातले विगलितानि-पतितानि तैः शय्यातलविगलितैः ॥ ९७ ॥

पश्यन्ती त्वन्मयमिव जगन्मोहभावात्समग्रं,
ध्यायन्ती त्वां मनसि निहितं तत्क्षणं तद्विरामे ।
मूर्त्तिं भित्तावपि च लिखितामीक्षितुं ते पुरस्ता—
दाकांक्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम ॥ ९

हे नाथ ! इयं बाला मोहभावात् समग्रं जगत् त्वन्मयमिवं त्वद्रूपमिव । तद्रूपे मयट् । पश्यन्ती–वर्त्तते । तथा तत्क्षण तद्विरामे–मोहविरागे मनसि निहित–स्थापित, त्वा–नाथ ध्यायन्ती-वर्त्तते । तथा च पुनस्ते–तव भित्तावपि लिखिता चित्रिता मूर्त्ति–प्रतिबिम्बं 'नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशा' नयनसलिलस्य–शोकजलस्य यः उत्पीडः-पूरस्तेन रुद्धः अवकाशो यस्याः सा तथा । तामीक्षितुं आकाङ्क्षन्ती–वाञ्छन्ती वर्त्तत इति, क्रियाध्याहारः सर्वत्रकार्य इति ॥ ॥ ६८ ॥

अन्तर्भिन्ना मनसिजशरैर्मीलिताक्षी मुहूर्त्तं,
लब्ध्वा संज्ञामियमथ दृशाऽवीक्षमाणार्त्तिदीना ।
शय्योत्संगे नवकिशलयस्रस्तरे शर्म लेभे,
साभ्रेह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ॥ ९९ ॥

हे नाथ ! इयं बाला शय्योत्सगे–शयनोपरितले न प्रबुद्धा न सुप्ता शर्म लेभे । अथतत्कारणगर्भितानि विशेषणान्याह–किम्भूतेय ? मनसिजशरैः–कामबाणै अन्तर्भिन्ना–चेतसि विदारिता सती मुहूर्त्तं यावत् मीलिताक्षी-मीलिते अक्षिणी यया सा मीलिताक्षी । अथ मुहूर्त्तं यावत् संज्ञां–चेतनां लब्ध्वा–प्राप्य दृशा अवीक्षमाणा–अपश्यन्ती भवन्तमिति शेषः । पुनः किम्भूता ? 'आर्त्ति–दीना' आर्त्तिर्विरहजा पीडा तया दीना आर्त्तिदीना । किम्भूते शय्योत्सगे ? 'नवकिशलयस्रस्तरे' नवकिशलयाना–नवपत्राणा स्रस्तरः-सस्तरो विद्यते यस्मिन्स तस्मिन । केव ? स्थलकमलिनीव । यथा स्थलकमलिनी साभ्रेह्नि दुर्दिननिघकारिते दिवसे न प्रबुद्धा न सुप्ता, सुख विकाशत्व लभते । अयमर्थः-विगीलितलोचनत्वान्न प्रबुद्धा । मुहूर्त्तं यावत्सज्ञाप्राप्तेश्च न सुप्तेति ॥ ६६ ॥

वृत्तान्तेस्मिन् तदनु कथिते मातुरस्यास्तयैत–
द्वृत्तं ज्ञातुं निशि सह मया प्रेपितः सौविदल्लः ।
सख्या पश्यन्नयमपि दशां तां तदोचे च जातं,
प्रत्यक्षन्ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥१००॥

पुनः सखी ब्रूते—हे नाथ ! अस्या राजीमत्या मातु -श्रीशिवाया [? श्रीधारिण्या] पुरः अस्मिन्वृत्तान्ते राजीमत्यनंगीकाररूपे कथिते सति तदनुपश्चादेतद्वृत्तं-चरित्रं ज्ञातु निशि-रात्रौ तया मात्रा मया सख्या सह सौविदल्लः-कञ्चूकी प्रेषितः । अयमपि सौविदल्लोपि ता—दशा राजीमत्या अनादररूपामवस्था पश्यन् । च-पुनर्मया सख्या तदा ऊचे—उक्तम् । यत् हे भ्रातर्यन्मया उक्त तन्निखिलमपि अचिरात्—तव प्रत्यक्ष जात । तदीय-तथाविध चेष्टादर्शनान् मद्वाक्यस्यानृतत्वं जातमित्यर्थः ॥ १०० ॥

प्रेक्ष्यैतस्मिन्नपि मृगदृशस्तामसह्यामवस्था—
प्रत्या याते कथयति पुरो विस्तरादेतदेव ।
दृग्भ्यां दुःखाद्दुहितुरसृजद्वाष्पमच्छिन्नधारं,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥१०१॥

एतस्मिन्नपि सौविदल्लोपि मृगदृशो-राजीमत्यास्तामसह्यामसहनीयामवस्थां प्रेक्ष्य । प्रत्यायाते-प्रतिनिवृत्ते शिवायाः [? धारिण्या] पुरो विस्तरादेतदेव कथयति सति दुहितृ राजीमत्या दु.खात् शिवा [? धारिणी] दृग्भ्या वाष्प-रोदन असृजत् अकरोत् । कथ ? यथा भवति । अच्छिन्नधारं-अत्रुटितप्रवाह यथास्यादिति । अर्थान्तरन्यासमाह-प्रायो वाहुल्येन सर्वः कोपि आर्द्रान्तरात्मा—सरसचित्तः सन् करुणावृत्ति —कृपाव्यापारः परदुःखाद्भवति । इयमपि माता—स्वदुहितृ दुःखदु खितास्ति । स्नेहजलपूर्णमभ्यन्त्वादित्यर्थ ॥१०१॥

आहूयैनामवददथ सा निर्दयो योऽत्यजत्त्वा—
मित्थं मुग्धे ! कथय किमियद्धार्यते तस्य दुःखम् ।
त्यक्त्वा लोलं नयनयुगलं तेरुणत्वं रुदत्या—
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ १०२ ॥

अथेत्यनन्तरं सा—माता एना—राजीमतीमाहूय—आकार्य अवदत् । हे मुग्धे ! यो निर्दयो-निःकरुण इत्थं बहुविज्ञप्तिवाक्यैः प्रसादितोपि त्वा अत्यजत् तस्य—नेमेरियदेतावन्मानं दु ख किं धार्य्यते—किमुह्यते । तथा रुदत्यास्ते—ता

लोलतरलं-नयनयुगल अरुणत्वं त्यक्त्वा 'चलकुवलयश्रीतुला एष्यति' चलानि-चचलानि यानि कुवलयानि तेषां या श्री –शोभा तस्यास्तुला-साम्यं प्राप्स्यति। कुवलयचलने कारणमाह–कस्मान्मीनक्षोभात्-मत्स्यचलनात् ॥१०२।

अन्तस्तापात् मृदुभुजयुगं ते मृणालस्य दैन्यं,
म्लानं चैतत् मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य धत्ते
प्लुष्टः श्वासैर्विरहशिखिना सद्वितीयस्तवायं,
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥१०३॥

हे राजीमति ! च–पुनरेतत् तव मृदु–सुकुमार भुजयुगं अन्तस्तापाश्चे-मे विरहदाहात् म्लानं सत् मृणालस्य–कमलनालस्य दैन्यं–परिम्लिष्टच्छायत्वं ते–बिभर्त्ति । किम्भूतस्य मृणालस्य ? 'मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य' मिहि-रकिरणैः-सूर्यकरैः क्लिष्टाग्लपिता–शोभा यस्य स तत्तस्य तथा । हे राजीमति ! तव अय 'सरसकदलीस्तम्भगौरः' सरसा–आर्द्राश्च ताः कदल्यश्च सरसकदल्य-स्तासां य स्तम्भस्तद्वद्गौरः, ऊरुश्चलत्व यास्यति-निर्मांसत्व प्राप्स्यति । किम्भूत ऊरुः ? स्वासैः–विरहोष्णोच्छ्वासैः, प्लुष्टो–दग्ध । पुनः कथंभूतो ? विरहशिखिना–विरहाग्निना सद्वितीयः–सह द्वितीयेन वर्त्तत इति सद्वितीयः ॥१०३॥

वत्से ! शोकं त्यज भज पुनः स्वच्छतामिष्टदेवाः,
कुर्वन्त्येवं प्रयत मनसोऽनुग्रहं ते तथामी ।
भर्तुर्भूयो न भवति रहः संगतायास्तथा ते,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलता ग्रन्थिगाढोपगूढम् ॥१०४॥

हे वत्से ! राजीमति ! शोकं त्यज–जहीहि । पुन स्वच्छता चेत. प्रस-न्नता भज । एव अमी इष्टदेवा–अभीष्टदेवता प्रयतमनस -उद्युक्तचेतसः सन्तः, तथा अनुग्रह–प्रसाद कुर्वन्तु । यथा ते-तव भूयो भर्तु. रहः संगताया-एकान्ते मेलिताया गाढोपगूढ–निविडालिंगितं सद्यस्तत्कालं 'कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि न भवति' कण्ठाच्च्युतो–भ्रष्टो भुजलता या ग्रन्थिर्यस्मिन्तत् कण्ठच्युतभुजलता-ग्रन्थि, एवविध न भवति ॥ १०४ ॥

आरोप्यांके मधुरवचसाऽऽश्वासितेत्थं जनन्या,
तत्याजाधिं क्षणमपि न या त्वद्वियोगात्कृशांगी ।
संप्रत्येषा विसृजति यथा सूनृतैस्तां तथाजौ,
वक्तुं धीर स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥१०५॥

या बाला जनन्या–शिवया अंके–उत्संगे आरोप्य–संस्थाप्य मधुरवचसा इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण आश्वासिता सती आधिं-मानसीं व्यथा क्षणमपि न तत्याज । किम्भूता ? त्वद्वियोगात्–त्वद्विरहात् कृशांगी-दुर्बलदेहा एषा–राजीमती संप्रति, यथा सूनृतैः–सत्यैः 'स्तनितवचनैः' स्तनितवद्-गर्जितवद्गम्भीराणि यानि वचनानि तैः स्तनितवचनैस्तं आधिं विसृजति–त्यजति । तथा हे आजौ–रणे धीर ! तां मानिनीं-स्वभावादहंकारिणीं प्रति वक्तुं प्रक्रमेथाः–उपक्रमं कुर्याः ॥१०५॥

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय दुःखं सखीना-
मन्तश्चित्तेष्वजनयदियं पाणिपंकेरुहाणि ।
हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदती रुन्धती कोमलाभ्यां,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥१०६॥

इयं राजीमती मातुः-श्रीशिवाया [? श्रीधारिण्याः] शिक्षाशतमलमत्यर्थमवज्ञाय–अवधीरयित्वा सखीनामन्तश्चित्तेषु दुःखं अजनयत्–उदपादयत् किंकुर्वती इय ? अनुक्तोपि च शब्दोत्र योज्यते । च-पुनः सखीनां पाणिपंकेरुहाणि कोमलाभ्यां हस्ताभ्यां प्राक् रुन्धती–प्रतिषेधयन्ती । किंभूतानि सखीनां पाणिपंकेरुहाणि ? "अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि" अबलायाः–राजीमत्या यो वेणिमोक्षो–वेणिछोटनं तत्रोत्सुकानि–उत्कण्ठितानि । पुनः किंकुर्वती ? सपदि शीघ्रं मन्द्रस्निग्धैर्गम्भीरमधुरैर्ध्वनिभिः शब्दैः रुदती–अश्रूणि मुञ्चन्ती ॥ १०६ ॥

वृद्धः साध्व्याः सुभग ! तव यः प्रेषितोभूत् प्रवृत्तिं,
ज्ञातुं तस्मात्कुशलिनमियं रैवताद्रौ द्विजातेः ।
त्वामाकर्ण्योच्छ्वसितहृदयासीत्क्षणं सुन्दरीणां,

कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात् किञ्चिदूनः ॥१०७॥

हे सुभग !—श्रीनेमे ! साध्व्या—शोभनशीलया राजीमत्या तव प्रवृत्ति ज्ञातु यो वृद्धो द्विजानि प्रेषितोऽभूत् । तस्मात् द्विजातेरिय बाला त्वा रैवताद्रौ कुशलिन—कल्याणवन्तमाकर्ण्य-श्रुत्वा क्षण यावदुच्छ्वसितहृदया—हर्षेणोल्लसित-मानसा आसीन—बभूव । यतः सुन्दरीणा सुहृदुपगतो—मित्रेणानीतः । अनेन च सदेशाव्यभिचारित्वं सूच्यते । कान्तोदन्त —प्रियतमसन्देशः सगमात प्रिय-सयोगात् किञ्चिन्मनागेव ऊनो-न्यून इति ॥ १०७ ॥

इत्थं कृच्छ्रे विधुरवपुषो वासरान् वर्पतुल्यां-

स्तस्याः सख्या जनकसदने त्वद्वियोगान्नयन्त्याः ।

अन्तश्चित्ते तव सुखलवो न प्रपेदे प्रवेशं,

संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥१०८॥

हे नाथ ! इत्थं अमुना प्रकारेण कृच्छ्रे—कष्टे विधुरवपुषः-पीडितदेहाया-स्तस्या सख्या—राजीमत्या जनकसदने- पितृगृहे त्वद्वियोगात—त्वद्विरहात वास-रान—दिनानि वर्पतुल्यान् नयन्त्या —प्रापयन्त्या, अन्तश्चित्ते तव-नाथस्य सुखलव शरीरेणेति गम्यते, प्रवेश न प्रपेदे—न प्राप्तवान । सकल्पैर्मनोवाञ्छाभिस्तैरिति पूर्वदर्शनादिव्यापारैस्तव सुखलव प्रविशति । यतो वैरिणा विधिना-दैवेन रुद्ध-मार्ग समुखलव इति ॥ १०८ ॥

प्राप्यानुज्ञामथ पितुरियं त्वां सहास्माभिरस्मिन्,

संप्रत्यद्रौ शरणमबला प्राणनाथं प्रपन्ना ।

अर्हस्येनां विषमविशिखाद्रक्षितुं त्वं हि कृच्छ्रे,

पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ १०९ ॥

अथेत्यनन्तर इय-राजीमती अबला पितु —समुद्रविजयस्य (? उग्रसेनस्य) अनुज्ञामादेश प्राप्य, अस्माभिः सखीगोविदलादिभि. सह अस्मिन्नद्रौ-उज्जयन्ता निधि त्वा प्राणनाथ शरणा प्रपन्ना । अतो हि-निश्चित, त्व एना-बाला कृच्छ्रे-कष्टे

विषमविशिषात्कामाद्रक्षितुमर्हसि योग्यो भवसि । यतः सुलभविपदा-क्षणविनश्वरत्वाच्छरीरस्य प्राणिनामेतदेव कुशलपृच्छनमेव पूर्वाभाष्य-प्रथममालपनीय-प्रथमप्रष्टव्यमित्यर्थः । अर्थान्तरन्यास. ।। १०६ ।।

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां

किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्ष्यसे दह्यमानाम् ।

तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश ! बाला,

त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ११० ॥

हे यादवाधीश ! श्रीनेमे ! बाला—राजीमती 'मन्मुखेन' मम सख्या मुखं मन्मुखं तेन, इद वक्ष्यमाणमाह—कीदृश ? तत् 'उत्कण्ठाविरचितपद' उत्कण्ठया-औत्सुक्येन विरचितानि पदानि शब्दा यत्र तत्तथा । यद्वा क्रियाविशेषणमेतदिति । इदमिति किं ?, हे नाथ ! यदि त्व 'धर्मज्ञो' जीवदयालक्षणधर्मज्ञाता वर्तसे तदा मा सहचरीं—सहचारिणीं च-पुनरेकचित्ता एकस्मिन्नेव भवलक्षणे प्रिये चित्त—मनो यस्या सा एकचित्ता ता, तथा रक्ता—अनुरागवती, एव विरहशिखिना—वियोगाग्निना दह्यमाना किमुपेक्षसे—किमुपेक्षा कुरुषे । तत्तस्माद्धेतोः स्वीकारात् मदीयेयमित्यङ्गीकारात् मयि कृपा दया कुरु । इतीद मन्मुखेनाह ॥ ११० ॥

दुर्लङ्घ्यत्वं शिखरिणि पयोधौ च गाम्भीर्यमुर्व्यां,

स्थैर्यं तेजः शिखिनि मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीम् ।

बुद्धे क्षान्ति नृवर ! कलयामीति वृन्दं गुणानां,

हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरुसादृश्यमस्ति ॥ १११ ॥

हे नृवर ! ते-तव-इति वक्ष्यमाण, दुर्लङ्घ्यत्वगाम्भीर्यादीना गुणाना वृन्द भवत्येव सर्वगुणानामविरोधतया अवलोकनात्, हन्त-इति खेदे, अन्यत्र तत्प्रतिकृतिदिदृक्षाकौतुकमपि न पूर्यत इति खेदः । क्वचिदपि त्रिभुवनेपि एकस्थ-एकस्मिन् वस्तुनि स्थित नास्ति । यत्र मम नयनप्रलोभन स्यात् । किन्तु क्वचित् पूर्वोक्तप्रकारेण व्यस्तमेव दृश्यते । तदेव दर्शयति—शिखरिणि पर्वते दुर्लङ्घ्यत्वं

च-पुन पयोधौ गाम्भीर्य-गम्भीरता, उर्व्या-पृथिव्या स्थैर्य-स्थिरता । शिखिनि-वह्नौ तेजः । मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीं । बुद्धे-सुगते क्षान्ति-क्षमा कलयामीति क्रियासर्वत्र योज्यते । एवं व्यस्तमेव गुणवृन्दमस्ति नत्वेकस्थं । उत्प्रेक्षते-गुणवृन्द भीरु इव अन्यदपि यत् किल भीरुवृन्दं भवति, तदपि न क्वचिदेकत्र प्राप्यत इति । अत्र लुप्तोपमा । किंभूत गुणवृन्द ? 'सादृश्य' सया-लक्ष्म्या दृश्य-दर्शनीयम् ॥ १११ ॥

एतानीत्थं विधुरमनसोऽस्वीकृतायास्त्वया मे,
दुःखार्त्तायाः क्षितिभृति दिनानीश ! कल्पोपमानि ।
आसन्नस्मिन्मदनदहनोद्दीपनानि प्रकामं,
दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥११२॥

हे ईश ! त्वया अस्वीकृताया मे-मम दु खार्त्ताया-वियोगदुःखपीडितायाः अस्मिन क्षितिभृति-रैवते इत्थं अमुना प्रकारेण एतानि-दिनानि प्रकाममतिशयेन कल्पोपमानि कल्पेन-युगान्तेन उपमीयन्ते यानि तानि कल्पोपमानि आसन-बभूवु । किंभृताया मे ? 'विधुरमनसः' विधुर वियोगेन पीडितं मनो यस्याः सा तस्याः । किंभूतानि दिनानि ? ' मदनदहनोद्दीपनानि ' मदनदहन-मन्मथाग्निमुद्दीपयन्तीति मदनदहनोद्दीपनानि । पुनः किंभूतानि ? 'दिक्ससक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि' प्रविरमन्तीति-गर्जन्तीति प्रविरसाः, दिक्षु समक्ता -संलग्नाश्च ते प्रविरसाश्च ते घनाश्च तैर्व्यस्तः सर्वथा निरस्तः सूर्यातपो येषु तानि, दिक्समक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥ ११२ ॥

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम् ।
तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥११३॥

हे नाथ ! अह रात्रौ कथमपि महता कष्टेन चिरात्-चिरकालेन निद्रा

प्राप्य यावद्भवन्तं स्वप्ने लब्ध्वा प्रणयवचनैः-स्नेहवाक्यैः किंचिद्वक्तुमिच्छामि, तावत् मे-मम प्राक्कृतैः-पूर्वभवविनिर्मितैर्दुरितैः-पापैस्तस्या निद्राया विरामो-व्यपगमो भवति । यतः क्रूरः कृतान्तस्तस्मिन्नपि स्वप्नेपि नौ-आवयोः सगमं सयोग न सहते-न क्षमते ॥ ११३ ॥

मन्नाथेन ध्रुवमवजितो रूपलक्ष्म्या तपोभि-
स्तद्वैरान्मामिषुभिरबलां हन्त्यशक्तो मनोभूः ।
दृग्भ्यां तप्तेष्विति मम निशि स्रस्तरे चिन्तयन्त्या,
मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥११४॥

हे विभो ! यत् भवता-नाथेन ध्रुवं-निश्चितं रूपलक्ष्म्या-रूपश्रिया, तथा तपोभिर्मनोभूरवजितस्तद्वैरात् यदुताह एतद्भर्त्रा बलवत्त्वेन जित इति वैरं, मनस्याकलय्य अशक्तोऽक्षमो मनोभूर्मामबलाममसमर्थां तत्पत्नीत्वेन ज्ञात्वा इषुभिर्बाणैर्हन्ति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण मम निशि-रात्रौ स्रस्तरे तप्तेषु तरुकिशलयेषु चिन्तयन्त्या -स्मरन्त्याः मुक्तास्थूला-मौक्तिकवत्पीवरा अश्रुलेशाः दृग्भ्यां पतन्ति ॥ ११४ ॥

अस्मिन्नेते शिखरिणि मया यादवेशान्तिकात्ते,
जीमूताम्भःकणचयमुचः सञ्चरन्तः पुरस्तात् ।
संसेव्यन्ते विषमविशिखोत्तप्तया नीपवाताः,
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति ॥११५॥

हे यादवेश ! अस्मिन् शिखरिणि-उज्जयन्ताभिधे ते-तव अन्तिकं-समीपं पुरस्तात् सचरन्त , एते नीपवाता, इति हेतोर्मया ससेव्यन्ते-आश्लिष्यन्ते । किंभूता नीपवाता· ? 'जीमूताम्भ कणचयमुचः' जीमूताम्भसा-मेघजलाना ये कणा-लेशास्तान् मुंचन्तीति जीमूताम्भःकणचयमुचः । किंभूतया मया ? 'विषमविशिखोत्तप्तया' विषमविशिखेन-कामेनोत्तप्ता-सतापिता तया । इतीति किं ? यदि किलेति पदद्वयमपि सम्भावनार्थ, एकार्थपदद्वयोपादानं तु सम्भावना-

तिशयं ख्यापयति । सम्यक् तवाङ्गमेभि पूर्वं संस्पृष्टं भवेदिति हेतोर्नीपवाला सिञ्च्यन्त इति ॥ ११५ ॥

संचिन्त्यैवं हृदि मयि दया धारयन् तत्प्रसाद
स्वामिन्निर्वापय वपुरिदं स्वांगसङ्गामृतेन
यत्सन्तापैरनिशमतितरां प्राणलावण्यशेषं,
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥११६॥

हे स्वामिन ! एवं हृदि सञ्चिन्त्य—ध्यात्वा मयि—अबलायां—बालायां दया धारयन—बिभ्रन सन् प्रसीद—प्रसादं कुरु । इदं मदीयं तद्वपुस्तनु स्वांगसंगामृतेन-स्वशरीरमिलनपीयूषेण निर्वापय—शीतलीं कुरु । तदिति किं ? यत् वपुः अनिशं—निरन्तरं अतितरामतिशयेन सन्तापैः 'प्राणलावण्यशेषं' सत् प्राणाश्च लावण्यञ्च तान्येव शेषं यस्य तत् प्राणलावण्यशेषं, तथाविधं सत् 'गाढोष्माभिः' गाढ ऊष्मा यासां ता गाढोष्मा। "अनन्नादबहुव्रीहौ डाप् अन्यतरस्या" स्त्रीलिंगे ताभिस्त्वद्वियोगव्यथाभिस्त्वद्विरहपीडाभिरशरणं कृतम् । त्वद्वियोगविधुरस्य मद्वपुषः परित्राणं नास्तीति भावः ॥ ११६ ॥

दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं,
संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वपुर्मे चिराय ।
यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजां,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

हे नाथ ! येन-वपुषा त्वद्वियोगात्—त्वद्विरहात् अनवधि-अमर्यादं दुःखं बुभुजे—भुक्तं इदानीं मे-मम तद्वपुश्चिराय-चिरकालं ते तव संयोगात् सुखमनुभवत्वास्वादयतु । यस्माद्धेतोर्जन्मान्तरविरचितैः—पूर्वजन्मविहितैः कर्मभिः प्राणभाजां—प्राणिनां दशा—अवस्था नीचैरुपरि गच्छति । कदाचिन्निम्ना दुःखोद्वेगजननी, कदाचिदुपरि मनोभिलाषसम्पादिका भवति। अत्र निदर्शनमाह-'चक्रनेमिक्रमेण' यथा चक्रधारा परिवर्त्तमाना सती क्षणेनोपरि क्षणादधः प्रवर्त्तते । दशाया कालपरिणतेरपि दुःखसुखानुरूपत्वात् एकरूपत्वं न भवति । अत्र ...लङ्कारः ॥ ११७ ॥

प्रावृट् प्रान्तं प्रिय ! मम गता दुःखदा दुर्दशेव,
प्राप्यान्योन्यव्यतिकरमितः साम्प्रतं संगमावाम् ।
भोगानेकोत्सवमुखसुखानिच्छया मन्दिरे स्वे,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ११८ ॥

हे प्रिय ! मम दुःखदा प्रावृट्-वर्षाकालः प्रान्तमवसानं गता-प्राप्ता । केव ? दुर्दशेव । यथा—दुःखदा दुर्दशा याति, तथा प्रावृट् पर्यन्तं प्राप्ता । इतः अस्माच्छरत्कालादारभ्यावां साम्प्रतं 'अन्योन्यव्यतिकरं' अन्योन्यं-परस्परं व्यतिकरः प्रेमार्द्रचित्तत्वेन संपर्को यस्मिन्स तं । संगं-संयोगं प्राप्य, च-पुनः स्वे-स्वाज्ञातयोर्या वा विद्यन्ते यस्मिन तत्तस्मिन अर्शआदित्वादप्रत्ययः । अथवा स्वे स्वकीये मन्दिरे वासभवने इच्छया क्षपासु-रात्रिषु भोगान् निर्वेक्ष्यावः-उपभोक्ष्यावहे किंभूतान् भोगान् ? 'एकोत्सवमुखसुखान्' एकान्यद्वितीयान्युत्सवसुखानि-उत्सवादीनि सुखानि येषु ते तान् । किंभूतासु क्षपासु ? 'परिणतशरच्चन्द्रिकासु' परिणता-वृद्धिं प्राप्ता शरदः-शरत्कालस्य चन्द्रिका यासु ताः परिणतशरच्चन्द्रिकास्तासु । चन्द्रिकावत्त्वेन रमणीयत्वं रजनीनां प्रत्यपादि

इत्येतस्याः सफलय चिरात् वाक्यमासाद्य सद्यः,
स्वं वेश्मैनां नवरतरसैः स्वस्थचित्तां कुरुष्व ।
तल्पे प्राक् त्वां निशि वदति या स्मेक्षमाणेव मोहाद्—
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥११९॥

हे नाथ ! इत्यमुना प्रकारेण एतस्या बालाया वाक्यं आगमनरूपं सफलय-सफली कुरु । तथा सद्यस्तत्कालं स्वं वेश्म आसाद्य-प्राप्य एनां बालां नवरतरसैः-नवीनसम्भोगरसैः स्वच्छस्वस्थचित्तां समाश्वासितमानसां कुरुष्व । एनामिति काम्? या बाला प्राक् तल्पे-शय्यायां निशि-रात्रौ स्वप्ने मोहाच्चित्तवैकल्यात्त्वामीक्षमाणा इव—अवलोकयन्तीव इति वदतिस्म-अब्रवीत् । इतीति किं ? हे कितव ! त्वं मया कामपि रमणीं रमयन् दृष्टः इति वदतिस्मेति ॥ ११९ ॥

त्वत्संगाद्याकुलितहृदयोत्कण्ठया राजपुत्री,
त्वामेषाऽऽत्रां त्वरयति चिरात् स्नेहपूर्णा प्रयातुम् ।

प्रायेणैताः प्रियजनमनोवृत्तयोऽप्राप्तिभावा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी-भवन्ति ॥ १२० ॥

हे नाथ ! एषा-राजपुत्री त्वां प्रति आवा-सौविदल्लसख्यौ चिरात् स्नेह-पूर्णा-चिर स्नेहपूरिता सती त्वरयति-उत्सुकयति । कया ? 'त्वत्सगाद्याकुलित-हृदयोत्कण्ठया' त्वत्संगादिना-त्वन्मिलनादिना आकुलितं यद्हृदयं तस्मिन् या उत्कण्ठा-औत्सुक्यं तया-साधनभूतया । यत प्रायेण एताः स्नेहपूर्णा प्रियजन-मनोवृत्तय इष्टे-वल्लभे वस्तुनि अप्राप्तिभावात्-असंयोगभावात् उपचितरसाः-दृढा-नुरागा. सत्यः प्रेमराशीभवन्ति, विशेषप्रीतिमय्यो भवन्तीति भावः । यद्यभि-धानकोशे-स्नेहशब्द-प्रेमशब्दयोरर्थभेदो न कृतस्तथापि व्युत्पत्तिकृत प्रतीयते, स्नेहनं स्नेहो वाचनिकं प्रीतिमात्रं प्रियस्य भाव प्रेमा आन्तर वाल्लभ्य । एवं च स्नेहपूर्णमनोवृत्तीना प्रेमराशिभावो युज्यत एव । अयमत्रभाव , वस्तुनि प्राण-भूते इष्टे-स्नेहपूर्णमनोवृत्तयः सयोगे सति तदुपभोगाद्रसोपचयस्यापि दिनकृत-स्योपभोगेन नोपचीयन्ते, तावन्मात्रा एवावतिष्ठन्ते । विरहे पुनस्तदुपभोगा-भावात् प्रत्यहमुपचय गृह्णन्तिस्म । ततः स्नेहपूर्णमनोवृत्तयः प्रेमराशी-भवन्ति रसोपचयं प्राप्य स्त्यानीभूताः विशिष्टवाल्लभ्यनिचया संजायन्त इति भावः । अत्र क्षेपकालंकार ॥ १२० ॥

तस्माद्बालां स्मरशरचयैः दुस्सहैर्जर्जराङ्गीं,
सम्भाव्यैनां नय निजगृहात् सत्वरं यादवेन्द्र ! ।
प्रीत्या चास्या मधुरवचनाऽऽश्वासनाभिः कृपार्द्रः,
प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥ १२१ ॥

हे यादवेन्द्र ! तस्माद्धेतोरेना-बाला दुःसहैः सोढुमशक्यैः स्मरशर-चयैः-कामबाणसमूहैर्जर्जराङ्गी-विदारितदेहा सम्भाव्य-सम्भावयित्वा सत्वर-शीघ्रं निजगृहात्-निजावासात् प्रति नय-प्रापय । च-पुन कृपार्द्र-सकरुणः सन् प्रीत्या-आनन्देन मधुरवचनाश्वासनाभिर्मधुरवचनैर्या आश्वासना-आश्वासनरूपा [illegible] ऽस्या-बालायाः जीवित धारयेथाः । किम्भूत जीवितं ? 'प्रात कुन्दप्रसव-शिथिल' प्रातः-प्रभाते कुन्दस्य यः प्रसवः-पुष्पं तद्वत् शिथिलम् ॥ १२१ ॥

त्वामर्थेऽस्याः किमिति नितरां प्रार्थये नाथ ! भूयो,
यस्मादीदृग् जगति महतां लक्षणं सुप्रसिद्धम्।
स्नेहादेते न खलु मुखरा याचिताः सम्भवन्ति,
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥१२२॥

हे नाथ ! अस्याः—राजीमत्या अर्थे त्वा किमिति प्रार्थये—किमिति याचे। यस्माद्धेतोरीदृक् सुप्रसिद्धं-सुप्रतीतं जगति महता-उदारचेतसा लक्षणं-चिह्नं, यदेते महान्तो याचिताः-प्रार्थिताः सन्त स्नेहात् न खलु मुखराः-वाचालाःसम्भवन्ति-जायन्ते। हि-यस्मात् सता प्रणयिषु ईप्सितार्थक्रियैव प्रत्युक्तं। प्रणयिना यदीप्सित तत्संपादनमेव साधूनां प्रतिवचनमिति ॥ १२२ ॥

गत्वा शीघ्रं स्वपुरमतुलं प्राप्य राज्यं त्रिलोक्यां,
कीर्तिं शुभ्रां वितनु सुहृदां पूरयाशां च पित्रोः।
राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥१२३॥

हे नाथ ! त्वं शीघ्र स्वपुरं गत्वा अतुलं—अनुपम राज्य प्राप्य त्रिलोक्यां शुभ्रां कीर्तिं वितनु-विस्तारय। सुहृदा-मित्राणा च-पुनः पित्रोराशाञ्च वाञ्छा पूरय। च पुनस्ते-तव राजीमत्या सह क्षणमपि एवं विप्रयोगो मा भूत्। कासु ? कस्य ? कयेव ? वर्षासु, नवघनस्य, विद्युतेव। यथा नवघनस्य वर्षासु-प्रावृट्सु विद्युता सह विप्रयोगो न भवति, तथा भवतोपि राजीमत्या सह विप्रयोगो मास्तु ॥ १२३ ॥

तत्सख्योक्ते वचसि सदयस्तां सतीमेकचित्तां,
सम्बोध्येशः समवविरतो रम्यधर्मोपदेशैः।
चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः,
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥१२४॥

इत्येवमिति बहिःस्थं योज्यं । तत्सख्या-राजीमत्याख्या वचसि उक्ते सति, सदय.-सकरुणः ईशः-श्रीनेमिस्ता एकचित्ता सतीं-राजीमतीं रम्यधर्मोपदेशैः सम्बोध्य-प्रतिबोध्य योगात्-ज्ञानदर्शन-चारित्रादिमोक्षोपायात् 'निजसहचरीं' निजसहचरीव-निजपाणिगृहीतीव या सा ता चक्रे। कस्मान्मोक्षसौख्यासिहेतोः। किंभूतः? समवविरतः-संसारोपरतः । हि-यस्मात् उत्तमेषु केषा अभिमतफला प्रार्थना न स्यात् ॥ १२४ ॥

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन्,
नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोधिगम्य ।
तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसारभाजां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१२५॥

श्रीमान्-नेमिरस्मिन् अचलशिखरे-रैवते योगात्-ध्यानात् केवलज्ञान-मधिगम्य-प्राप्य ता-राजीमतीं शिवपुरि-मोक्षपुर्य्यां 'अभिमतसुखं' अभिमत-अभीष्टं, आत्यन्तिकदुःखोच्छेदेन सुखं यस्मिन्स तं । यद्वा क्रियाविशेषणं । आन-न्दं शश्वन्निरन्तरं भोजयामास । किंकृत्वा ? संसारभाजा इष्टान्-भोगान् परि-त्याज्य-मोचयित्वा । किम्भूतो नेमिः ? 'देवोरगनरगणैः' देवांश्च उरगाश्च नराश्च तेषां ये गणास्तैः स्तूयमान ॥ १२५ ॥

सद्भूतार्थं प्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
दन्त्यं पादं सुपदरचितान् मेघदूताद् गृहीत्वा ।
श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥१२६॥

श्रीमन्महाकवि-मन्त्रिवर्य्य-विक्रमप्रणीतं
श्रीनेमिदूतकाव्यं सम्पूर्णम् ।

विक्रमाख्य'-विक्रमनामा कविः श्रीमन्नेमेश्वरितविशदं चरितेन-चरित्रेण विशदं-उज्ज्वलं काव्यं चक्रे । कस्यै ? 'बुधजनमनः प्रीतये' बुधजनानां-विद्वल्लोकानां यानि मनांसि तेषां या प्रीतिरानन्दस्तस्यै बुधजनमनः प्रीतये । किंकृत्वा ? 'सद्भूतार्थप्रवरकविना' सद्भूता-सत्या ये अर्थास्तैः प्रवरः-प्रधानो यः कविस्तेन सद्भूतार्थप्रवरकविना, कालिदासेन सुपदरचितात्-शोभनपदविनिर्मितान् मेघदूतादन्त्य-आवसानिकं पादं-वृत्तचतुर्थांशं गृहीत्वा । किम्भूतो विक्रमाख्यः ? 'साङ्गणात्' साङ्गणेति कविपितुरभिधानं तस्मादाप्तजन्मा आप्तं-प्राप्तं जन्म येनेति आप्तजन्मा ॥ १२६ ॥

इति श्रीनेमिदूतकाव्यवृत्तिः परिपूर्णाभवत् ।

वृत्तिकृत्-प्रशस्तिः

युगयुगरसशशि (१६४४) वर्षे, विक्रमतो विक्रमाख्यवरनगरे ।
श्रीरायसिंहराज्ये, मन्त्रीश्वरकर्मचन्द्राढ्ये ॥ १ ॥

लब्धजगज्जयवर्णे, विशिष्टवरशास्त्रबोधकाकीर्णे ।
श्रीमत्खरतरगच्छे, गुणमणिभिः सिन्धुवदतुच्छे ॥ २ ॥

यः प्रौढिमानममलं, प्राप विवृण्वद्भिरद्भुतनवाङ्गीम् ।
श्रीअभयदेवगुरुभिः, क्षमारमासत्तमा गुरुभिः ॥ ३ ॥

तस्मिन् विजयिषु सुनयिषु, श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिसत्प्रभुषु ।
बहुविबुधरत्नमण्डित-मिहास्ति येषां सदोपान्तम् ॥ ४ ॥

यैर्गुर्जरे नीवृति राजसंसदि, प्राज्ञोत्तमद्वादशवादवान्वितैः ।
जयःप्रपेदे च धरापतेः पुरो, निर्जित्य दुःपाठकधर्मसागरम् ॥ ५ ॥
युग्मम् ।

श्रीक्षेमशाखासु बभूवुरुच्चकैः, श्रीक्षेमराजाभिध पाठका भुवि ।
आबालगोपालविचक्षणावलिं, येषां यशोऽद्यापि चमत्करोति ॥ ६ ॥

येषामुदयिनः शिष्या, अद्भुतदीपवद्गुणैः ।
शिवसुन्दरनामानः, कनकाह्वाश्च पाठकाः ॥ ७ ॥

वाचनाचार्य सौन्दर्य-पदभासमहामहाः ।

श्रीदयातिलकाः कामं, तथा कामितदायिनः ॥ ८ ॥ युग्मम् ।
तेषां पट्टोदयक्षोणी-धरचूलादिवाकराः ।
राजन्ते वाचनाचार्याः, सद्विनेयगणार्चिताः ॥ ९ ॥
प्रमोदमाणिक्यशुभाभिधाः सुधा-माधुर्य्यमाधुर्य्यवचोविलासिनाम् ।
अनेकशास्त्रार्थसुपाठकानां, तच्छिष्यतावाप्तसुखोदयानाम् ॥१०॥
श्रीजयसोमगणीनां, शिष्येणेयं विनिर्मिता वृत्तिः ।
काव्यस्य नेमिदूताभिधस्य, गुणविनयगणि सुधिया ॥११॥

इति श्रीमज्जयसोमगणीनां शिष्येण पं० गुणविनयगणिना श्रीनेमिदूतकाव्य-विवरणं चक्रे ।

यदत्रवितथं प्रोक्तं, मतिमान्द्याद्वचो मया ।
पाठालीकतयावापि, तच्छोध्यं विबुधैर्मुदा ॥१॥

श्रीरस्तु ।

श्रीपार्श्वनाथ-श्रीजिनदत्तसूरि-श्रीजिनकुशलसूरीणां-प्रसादात् ।

शिवं स्तात् ।

अथम श्रीमज्जिनरत्नसूरिरचितं

उज्जयन्तालंकार-श्रीनेमिनाथ-स्तोत्रम् ।

जय जय जय नेमे ! धर्मचक्रैक नेमे,
जय जय जय नाथ ! आयस श्रीसनाथ !।
जय जय जय नेतः कामनामापनेतः,
जय जय जय देवश्च्युज्जयन्ते त्वमेव ॥ १ ॥

अपि नवविधयोमी मेऽधुना पादमूले,
करतलकलिचिन्तारत्नमप्रत्नमास्ते ।
सुरतरुरपि सेवा मार्गयत्येव देव !,
त्वयि सति परमर्षे ! नेत्रपीयूषवर्षे ॥ २ ॥

शुष्कं दुष्कृतकैर्व्यलासिसुकृतैर्मिथ्यादृशास्तं गतं,
सम्यक्त्वेन विजृम्भितं कुमतिभिः क्षीणं सुधीर्निश्चितम् ।
दोषैः प्रोषितमोषितं गुणगणैः मैवैः शुभैर्वोदितं,
किं वा देव शिवायतेतिशमितं त्वद्वीक्षणान्मे क्षणात् ॥३॥

हे श्रोत्रे ! श्रवणापृतानि पिबतं साक्षाद् प्रभोः सद्गुणान्,
नेत्रे नेत्रचकोरचञ्चुचरितं लीढं सुमूर्तिं विभोः ।
जिघ्रघ्राणतदीय सौरभभरं तन्व्या रसज्ञे स्तुतम्,
चुम्बाङ्घ्रिद्वयमुत्तमाङ्ग गलिता प्राप्य प्रहार्घं दिवः ॥ ४ ॥

श्यामश्यामलधीरधीरमनसो वज्रेण संवर्मिता,
स्तोतत्रातरवान्नुमत्रि जगतिं त्रिस्वामिशालं वयम् ।
नश्यन्ति ध्रुवमेव मोहमुखरा दूगत्तथा रातयो,
येनैषां गृहिणीषु सौमगरमाहारण्य-मालात्यभूत् ॥ ५ ॥
शश्वत्पल्लवितप्रपुष्पितफलन्नानामहाकानन,
श्रेणीचित्रपटीनि चोलिततनुः श्रीरैवतः पर्वतः ।
नित्यं पुष्यति रत्नसानुधरणी भृच्चक्रिलीलायितां,
वैडूर्योज्ज्वलचूलिका-विलसितं यत्रेति नेमिः स्वयम् ॥ ६ ॥
यो जन्माभिषवक्षणे क्षणमहो गोस्वामिना नेमिना,
नीलग्रावमयोत्तमाङ्गतिलकश्चक्रेऽमुना मेरुणा ।
दीक्षाज्ञानशिवोत्सवेषु विभुना शृंगारितोयं गिरिः,
सत्यं नित्यमहं करोतु गिरिराट् संज्ञास्य सत्यास्तुच ॥ ७ ॥
दूराद्वीक्षित उज्जयन्तशिखरे व्यैक्षि ध्रुवं तत्पदं,
दिष्ट्यां सीदति चोज्जयन्तशिखरेत्यासन्नमेतत्पदम् ।
आरूढे चिरसोज्जयन्तशिखरे चारूढमुच्चैः पदं,
यत्राभीष्टमरिष्टनेमिभगवन् ! कल्पद्रुमो यच्छति ॥ ८ ॥
पादौ कच्छपजित्वरौ करयुगं दिव्यप्रवालातिगं,
श्रीमध्यं शतकोटिमध्यविजयि स्कन्धौ तवात्यर्बुदौ ।
धृष्टि-पद्मनुदौ च कण्ठदशनौस्यंशङ्खकुन्दाब्जजित्,
सर्वाङ्गं यदि वात्मजे त्वयि भवानिस्तुल्यनिर्मूल्यकः ॥ ९ ॥
द्वास्थस्ते स्मितचांगरक्षणचणोहं द्वारभट्टोप्यहं,
स्नानक्षालनपूजनादिकृदहं शिष्यो भुजिष्योप्यहम् ।

सेवाकार्यपि किंकरोस्म्यपि च ते दासोनुदासोप्यहं,
तत्स्वाम्योचितमेव देव! मयकि स्वामिन्! प्रसीद प्रभो! ॥१०॥
श्रीउज्जयन्तगिरिराजमतङ्गराज,
स्कन्धस्थली निपदनैकनिपादिराज।
श्रीनेमिनाथ! जिनरत्न कुरु प्रयत्न-
मात्मोचितं त्वरितमुद्धर दीनमेनम् ॥ ११ ॥

इति श्रीउज्जयन्तालङ्कार-श्रीनेमिनाथ-स्तोत्रम् ।

नेमिदूत

अनुवादक—

महारावजी श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरञ्जन

भैंसरोड़गढ़ (मेवाड़)

अर्हम् ।

मंगलाचरण

जय गणनायक गौरिसुत जय-जय-ऋद्धि-सिद्धि;
दया-दृष्टि रख दास पर विमल कीजिये बुद्धि।

पूर्वाभास

सिन्धुविजय-सुत नेमिनाथ से राजुल का सम्बन्ध किया ;
जूनागढ़-नृप उग्रसेन ने परिणय-हेतु प्रबन्ध किया।
वहां बरात ठाठ से आई सतत मोद-नद में बहती ;
पर जैसी होनी होती है, वैसी होकर ही रहती।

कुछ भी नहीं जान हम पाते, ये अदृष्ट तव अद्भुत काज ;
क्या प्रवृत्ति पथ पर निवृत्ति का यहां सजा है सुन्दर साज।
बलि-हित पशु लख नेमिनाथ को प्रचुर पाप का ध्यान हुआ;
अवसर पाकर पूर्वभवों का समुदित पुण्य महान हुआ।

---

* श्रीनेमिजिनेन्द्राय नमः *

नेमिदूत

(१)

जीव-त्राण मे दत्तचित्त हो, बन्धुवर्ग परिजन- भव-भोग,
उग्रसेन-तनुजा को भी तज, लिया उन्होंने अविचल योग।
श्रीमन्नेमिनाथ प्रभो वह, मोक्ष-मार्ग में करके प्रेम;
छायावाले रम्य रामगिरी पर जा रहे धार दृढ़ नेम।

(२)

तुङ्ग शृङ्ग पर बैठ वहाँ वह, होकर ध्यान-मग्न सविशेष,
कलुष-रहित हो देख रहे थे निज नासा को हो अनिमेष।
सजल श्याम वारिद सा उनको राजमतीजी ने देखा,
अखाड़ पर क्रीड़ा में परिणित करिवर-तुल्य उन्हें लेखा।

(३)

प्रावृट के शोभामय दिन मे उन्हें शान्ति-सुख मे रत देख,
खिले नीप-सुमनों-युत नग पर नृत्य-निरत शिखियों को लेख।
ले करके निःश्वास दीर्घ वह गिरी, भूमि पर चली गई,
राग-रहित पति पाकर प्रमदा कौन न दुख से दली गई।

(४)

उस पतिव्रता सती बाला के पद पड़ने से हुआ पवित्र,
कुटज गंध-युत शीतल जल से स्वागत करता हुआ विचित्र।
वायु व्यजन द्वारा श्रम हरता गूँज उठा वह गिरि ऊँचा,
या मलिन्द-मण्डल गुञ्जन मिस उससे कुशल-क्षेम पूछा।

(५)

सिद्धि-लाभ-हित शैल-शिखर पर लख निज स्वामी को आसीन,
उग्रसेन-तनया कृशाङ्गी वह विरह-व्याकुला गति-मति-हीन।
हाय सांत्वना लगी माँगने गिरी-सम्मुख मस्तक को टेक,
भेद भूलते जड़-चेतन का होकर कामी हीन-विवेक।

(६)

फिर यदुपति से यों बोली वह काम-पीड़िता अश्रु बहा,
शरणागत-वत्सलता ही है राजधर्म का मर्म रहा।
आओ मुझे बचाओ यह मैं खड़ी त्याग संकोच विचार,
"नहीं" श्रेष्ठ है श्रेष्ठ जनों की "हाँ" भी नीचों की निस्सार।

(७)

तुङ्ग शृङ्ग तज करके आओ चलें द्वारिका को तुम-हम;
जिसके भवन रत्न-निर्मित हैं, हरते अन्तराल का तम।
जिसकी समता करती अलका होती है संकुचित सविषाद,
यद्यपि भव की भाल-चन्द्रिका से उसके धवलित प्रासाद।

(८)

सुन गर्जन गंभीर घनों का, चपल चञ्चला का लख लास;
और जान सौरभ फैलाता जुही-चमेली का सुविकास।
विरहानल में कौन जलेगी मुझ जैसी जीवित रहकर;
पावस के सुन्दर दिवसों में पराधीनता-दुख सहकर।

(९)

देखो बैठ वायु पर गिरि से विस्तृत हो यह घन साह्लाद,
विरही जनों के कर्ण-मूल को फोड़ रहा कर घोर निनाद।
जिन्हें पथिक, प्रोषितपतिकाएँ, कमल, कौमुदी रहे निहार,
वह उड़ती बक-पंक्ति आपकी सेवा का सब लेगी भार।

(१०)

नये नीरदों से नीला नभ लख करके जब घबराती,
मन्मथ के खरतर शर से जब विद्ध हुई-सी थर्राती।
विरहाकुल विह्वल बालाएँ हो जाती हैं जब म्रियमाण;
कहो कौन तब पति को तजकर कर सकता है उनका त्राण।

(११)

कज्जल-से काले कजरारे दिग् के अम्बर मेघ महान;
अंधकार में लीन करेंगे यहाँ रात्रि-वासर का ज्ञान।
अधिक और क्या फल पाओगे इस निर्जन नग पर कर वास,
सहचर नभचर हंस मिलेंगे यों ले लेने से संन्यास।

(१२)

मेरा हितकर कहना गिनकर चलो द्वारिका को सानन्द;
सुभग सहायक कृष्णादिक-युत करो राज्य पाकर आनन्द।
तप्त अश्रु-जल बरसावेंगे यदुवर तब हो नयन विघूर्ण,
चिर वियोग पीछे मिलने पर होता प्रेम प्रकट परिपूर्ण।

(१३)

नव वय मे ही कृश हो तप से कर स्रोतों का लघु पथ पान,
क्यों भूधर पर बैठे हो तुम व्यर्थ त्यागकर अवधि-विधान।
यहाँ वृद्ध होकर ही क्षत्रिय निज जाया-युत रहते है,
वन-फल खाकर तपस्वियों-से शम-सुख में नित बहते हैं।

(१४)

दिग् नागों की सूँडे दलते कर विदीर्ण मघवा का मान,
नन्दन-वन से पारिजात को लाए थे हरि मोद-विधान।
युवा; यादवों को उपवन मे करता है जो मतवाला,
त्याग द्वारिका का उपवन वह पर्वत से क्या प्रेम पाला।

(१५)

प्रभो! आपका भव्य कलेवर था जो तप्त हेम-जैसा,
लता-पुञ्ज से परिवेष्टित हो लगता अब सुन्दर कैसा।
चपला-युत नीले नीरद की शोभा को करता निश्शेष;
मोर-मुकुट धर गोप कृष्ण-सी दिखलाकर नव छवि सविशेष।

(१६)

कण्टक-कीर्ण कहाँ भूधर यह मणिमय महल कहाँ रमणीय,
कहाँ कठिन तप कहाँ तुम्हारी देह-लता कोमल कमनीय।
इस कारण हित समझ-सोचकर मुझ अबला की अनुनय मान,
यक्षाधिप की दिशा ओर तुम धीरे-धीरे करो पयान।

(१७)

देखो पयद समय पा प्रमुदित मित्र मयूरों को करता,
प्रेयसियों से परिरम्भण-हित पथिकों का धीरज हरता।
विमुख नहीं कोई होता है मित्र-प्राप्ति का समय विचार,
उसका तो कहना ही क्या है जो इतना है उच्च-उदार।

(१८)

जैसे तुम भूषित थे पहले, उसी तरह से पुनः रहो;
पा करके साम्राज्य-सुखों को क्रीड़ा-रस मे सतत बहो।
शीघ्र सफल कर लो यह यौवन समय-विहङ्गम चलता है,
श्रेष्ठ भाव उपकार बड़ों का इससे सत्वर फलता है।

(१९)

तुलना होती कहीं न जिसकी त्याग वही नगरी सुख-धाम;
क्या कुछ कष्ट न पाते हो तुम इस गिरि पर रह आठों याम ?
कनक वप्र पर जहाँ तुम्हारा शोभित है नीलम का सौध;
पाण्डु मध्य मेचक विलोक कर होता भू के कुच का बोध।

(२०)

देखो लख जिस बकावली को नभ मे ले निःश्वास सशोक
विवश हुए से घर जाते है तुमसे निर्मम भी वे रोक।
दामिनि-द्युति से नव-जलधर में इन्द्र चाप-युत उसे निहार;
होता ज्ञात यथा गज-तन पर रुचिर-पत्र-रचना-शृङ्गार।

(२१)

जब तुम राज्य रमायत पुर मे बैठे दुख को हरते थे,
सभा मध्य तब मुदित हुए से यदुवर सेवा करते थे।
अब गिरि पर रहकर एकाकी करते हो तुम भारी भूल
रीतापन लघुता का सूचक पूरापन गौरव का मूल।

(२२)

समाधिस्थ अवलोक आपको चाट आपके अवयव अंग,
शिशुओं-से ही खेल रहे है प्रभो अङ्क मे अभय कुरङ्ग।
पर अब तुम्हें द्वारिका जाते लख करके घबरावेंगे,
आँखों से आँसू टपकाते यह मृग मार्ग दिखावेंगे।

(२३)

तजकर तुङ्ग शृङ्ग यह गिरि का वृहद्राज्य पा भोगो भोग;
बन्धुवर्ग में सदा विनय-युत रहना ही है तुमको योग।
दीर्घ काल तक रम्य हर्म्य में रह करके सादर सानन्द,
उत्कंठा से प्रिय सखियों के आलिंगन का लो आनन्द।

(२४)

वितरण करता कम्पित करके विकसित अर्जुन परिमल-गन्ध,
पथिक जनों को गृह जाने की उत्कंठा से करता अन्ध।
विरही जनों का हृदय-विदारक पयद पवन देगा सन्ताप,
जाने को उद्यत होवेंगे तब अपनी नगरी को आप।

(२५)

यदि तुम घर न चलोगे, तो हो सूखे सर-से महा मलीन,
जननी-जनक आपके औ मैं तीनों होंगे सुध-बुध हीन।
होवेगा उद्विग्न कलेवर ले-लेकर नीरव निःश्वास,
तब दशार्ण में अधिक न होगा सुभग राजहंसों का वास।

(२६)

जीव-त्राण ही धर्म गिनो, तो स्वजनों का भी त्राण करो,
देवों द्वारा रची द्वारिका उसकी ओर प्रयाण करो।
वहाँ पास ही अम्बुधि-तट पर वेत्रवती की तुङ्ग तरङ्ग,
लहराती है ज्यों रमणी की वङ्क हुई भ्रुकुटी का ढङ्ग।

(२७)

इस नग के नीचे प्रति पथ पर चल तुम देखोगे अभिराम;
कौस्तुभ-मणियों से चमकीला उज्ज्वल क्रीड़ा-शैल ललाम।
वनिताओं की नूपुर-ध्वनि से टपका रमण सरस सानन्द,
शिला-गृहों में लो बतलाया यदुवों को यौवन से अन्ध।

(२८)

विस्फुट विटपों से पा करके विविध सुमन-सौरभ सुख-धाम;
स्वागत से प्रमुदित हो लेना वहाँ वाटिका में विश्राम।
छाया से परिचय पा करके गत्र हास्य जिनमें सविलास,
भीतर जाना मालिनियों के मुखाम्बुजों का कर सुविकास।

(२९)

मनसिज रसोल्लास लीला से वह अलसित अङ्गोंवाली,
कठिन कुचोंवाली मालिनियाँ ललित-लोचनी मतवाली।
जिनके कर्ण-कमल पर होती लोलुप अलियों की गुञ्जार,
ठगे गए यदि देख उन्होंने कीन तनिक भ्रकुटी-सचार।

(३०)

सरस सुरत की इच्छुक-सी वह होगी तुम्हें देख अविलम्ब;
दिखलावेगी हाव-भाव सब तरु-शाखा का कर अवलम्ब।
बता मृगाक्षियें नाभी त्रिवली तथा कठिन कुच केश कलाप;
प्रायप्रणय प्रकट करती है, करती नहीं प्रथम आलाप।

(३१)

न्याय-विशारद पुरुष न करते किसी काम में कभी विलम्ब;
इससे मैं अनुनय करती हूँ चलो द्वारिका को अविलम्ब।
लिया सजल-दृग हो तब माँ ने अनशन-व्रत सह विषम वियोग;
वह दुखिया दुर्बलता त्यागे तुम्हें वही अब करना योग।

(३२)

विषम स्वर्ण रेखा के तट कर उस उद्यान निकट ही पार;
निज गृह जाना मार्ग मध्य वह वामनजी की पुरी निहार।
मानव-भोग भोगने सुमनस आये जहाँ त्रिदिव को त्याग,
लाए शेष पुण्य फल-सा वह अमर-लोक का भव्य विभाग।

(३३)

आलोडन करके क्षिप्रा को लेकर सरस स्पर्श का मोद;
मदोन्मत्त मारुत करता है वहाँ सतत विचरण सविनोद।
प्रियतम सा विदलित पट करके पोंछ वारत्रिय-तन-प्रस्वेद,
चाटुकार-सा क्षिप्रा वातुल हरता है रति-श्रम का खेद।

(३४)

मरकत-मणि के वहाँ स्तंभ हैं विद्रुम की देहली अभिराम,
वासव की मणियों से विजड़ित अग्रभाग के हर्म्य ललाम।
उसकी मुक्तामयी मही पर करि-दल भी निखलाते हैं;
केवल पय तजकर पयोधि से उसमें सब गुण पाते हैं।

(३५)

पुरा काल मे वामनजी ने साधा वहाँ तुमुल तप उग्र,
सभी लोक में व्याप्त हुए वे जिससे पाकर सिद्धि समग्र।
दानी मूढ़ दैत्यपति जिससे भेजा गया त्वरित पाताल:
आगन्तुक से मनुज वहाँ के कहते हैं प्रायः वह हाल।

(३६)

पहुँच उसी प्रख्यात पुरी को पा जन-चय से शुभ सत्कार,
श्रम हरना रह रम्य हर्म्य में हे नरवर तुम भले प्रकार।
बिछे चिह्न थे यावक-रस के शय्या पर उज्ज्वल प्रावार,
सूचित करते हैं वह मानों ललनाओं का निशाभिसार।

(३७)

कम्पित करता क्षिप्रा के तट खिले मालती के आराम;
बालाओं की जल-क्रीड़ा से हरता जल-सीकर सुख धाम।
वहाँ सुगन्धित शीत समीरण पोंछ तुम्हारा तन-प्रस्वेद;
सभी तरह से दूर करेगा मार्ग-क्रमण का सारा खेद।

(३८)

वहाँ उपास्य आपसे होंगे महादेव अति महिमावान,
मङ्गलमय विख्यात अनादी करुणामय वह दयानिधान।
दर्शन कर मन्दिर में उनके दृग कृतार्थ हो जावेंगे,
घन-रव सा सुनकर मृदङ्ग-रव नृत्य-समय सुख पावेंगे।

(३९)

तुम्हें मदन-से भी सुन्दर गिन सुन्दरियाँ होकर अनिमेष,
नील नीरजों से इस तन पर चित दे चंचल हो सविशेष।
वहाँ प्रात ही राजमार्ग में जाते लखकर अपने पास,
मधुप-पंक्ति-सी चल चितवन से छोड़ेंगी वह कुटिल कटाक्ष।

(४०)

उसके उच्च गृहों पर लखते दिव्य रत्न के दीप अमुल्य,
प्रचुर प्रभा से जो करते हैं कुहु को भी राका के तुल्य।
शान्त नयन उद्वेग-रहित हो नभ-पथ से जाना तत्काल,
देखेगी तब मुदित हुई सी उमा तुम्हारी भक्ति विशाल।

(४१)

नागरिको से लाए रथ पर बैठ वहाँ जब जाओगे,
दर्शनोत्सुका ग्राम-नारियों को तब पथ पर पाओगे।
तुम गिरती मणियों से उनको धन देते जाना हे धीर,
मेघ-गर्जना सी गर्जन कर उन्हें न करना अधिक अधीर।

(४२)

सुनकर तुम्हें मार्ग मे आते यादववर केशव तत्काल;
स्वागतार्थ तव सकल सैन्य-सह भेजेंगे स्यन्दन सुविशाल।
मोदमना तव तात साथ में हर्ष सेभी दिखलावेंगे।
सुहृदों के सत्कार प्रयोजन का महत्त्व सिखलावेंगे।

(४३)

आए सुन तुमको तोयधि-तट बलपुर से बलराम प्रधान;
मिलकर दे उपहार तुम्हें तो रखना वह सादर सम्मान।
स्वीकृत नहीं हुआ वह तुमसे यदि यह हो जावेगा ज्ञात,
तो फिर वहाँ उमड़ आवेगा वैर-वारि का प्रबल प्रताप।

(४४)

सफरी की किलोल से तरलित लखकर स्वच्छ स्फटिक-सा जल;
जलनिधि-तट जाना रथ बैठे जहाँ विचरती वीचि विमल।
मानो पा नदियां-नवलाएँ हो कामी-सा उदधि अधीर;
उनकी मीन चटुल चितवन भी नहीं देखता है धर धीर।

(४५)

वहाँ वीचियों में देखोगे पूर्व कथित सरिता निर्मल;
जिसे तरङ्ग-करों से पकड़े रहता है नीरधि निश्चल।
मानो मुग्ध हुआ पीता वह उनकी मुख-मदिरा अम्लान;
स्वाद पड़े पर कौन तजेगा इस सौन्दर्य-सुरा का पान।

(४६)

जलधि-सलिल सीकर-कण हरता तुमुल तरङ्गों को झकझोर;
तट के कलित केतकी-दल को कम्पित करता गंध बटोर।
वन गूलर परिपक्व बनाता हुआ सुगंधित शीत समीर,
वहाँ मार्ग का श्रम हर करके तुम्हें करेगा स्वच्छ शरीर।

(४७)

फिर आगे जाना रत्नाकर-नामक निधि को तुम अवलोक।
जिससे कालकूट निकला था, काँप उठा था सारा लोक।
जल-तल मे भी जग का दाहक रहता है वह तेज महां।
रवि से भी बढ़कर रक्खा है पावक-मुख मे जिसे जहाँ।

(४८)

वहाँ किनारे के कानन में रहने वाले मञ्जु मयूर;
बोले मृदु स्वर से लख तुमको नील जलद से आते दूर।
तो तुम निकट पहुँचकर करना दधि-गर्जन-सा शब्द विशाल;
गूँज उठे गिरि-गह्वर जिससे नाच उठे केकी तत्काल।

(४९)

विपुल पुलिनवाली वह भद्रा आगे जा देखोगे तुम;
सहसा जिसमें उच्च उर्मियाँ उठती रहती हैं हरदम।
वायु-विकम्पित उज्ज्वल जल में चन्द्र-कला-सा रूप-विकास;
रन्तिदेव की विमल कीर्ति उस चर्मवती से करती हास।

(५०)

जल-निधि में जल मिलकर जिसका बढ़ा रहा है वेग अपार,
जाओगे उसमें रथस्थ ही यादवेन्द्र जब करने पार।
देखेंगे तब तरङ्गिणी को नभचर हो अपलक उस काल,
इन्द्र नीलमणि लिए मध्य में वसुन्धरा की मौक्तिक-माल।

(५१)

पार उतर उस पयस्विनी के पाना ईश पौर में स्थान,
देश-देश के जन-चय से हैं शोभित जिसकी रम्य दुकान।
उसके उच्च भवन छूते हैं शीश उठाकर नभ के गात्र,
बनते दशपुर ललना-लोचन ललित लालसा के शुभ पात्र।

(५२)

अनघ! वहाँ नव-तृण-आच्छादित पङ्किल पथ पर जाओगे,
कलुषित सर करते जलधर को गगनाङ्गण में पाओगे।
जलज-मुखों पर जो करता है भीषण पय-धारा का पात,
जैसे पहले तुम करते थे रिपु-मुख पर शर का आघात।

(५३)

विविध रत्न-विजड़ित शिखरों का वह गिरि भव्य गंधमादन,
प्रियतम, तुमको दिखलावेगा सम्मुख आ आभामय तन।
अकलुष हृदय असित तन सब तुम उत्कंठित हो किसी प्रकार,
उसे मुग्ध हो अवलोकोगे नए दृश्य सा बारम्बार।

(५४)

विरूपाक्ष के वाम अङ्क में गौरी का स्वच्छन्द विहार,
देख जहाँ पर जाह्नवी ने बढ़ा दिया निज वेग अपार।
कृत्रिम हास्य प्रकट कर सहसा दिखा व्यङ्ग का ढङ्ग विशेष;
पकड़े वीचि-करों से उसने शंकर के हिमक-युत केश।

(५५)

स्फटिक-सदृश सित शृङ्गोंवाले उस नग पर जब जाओगे,
जल में मेघ-कान्ति-सी उसमें निज आभा झलकाओगे।
दृश्य वहाँ का सुन्दरतम तब अधिक सुशोभित होगा रम्य,
दिखलावेगा गंगा-यमुना-संगम की-सी छटा सुरम्य।

(५६)

सूर्यकान्त-मणिमय शिखरों के वाम पार्श्व मे जिस गिरि पर;
पके श्याम जामुन से तरुवर लगते हैं कैसे सुन्दर।
दर्पित हो निज शृङ्गों के बल जो धरणी धरता निश्शंक;
भव के उसी विशद वाहन के लगा शीश पर हो ज्यों पङ्क।

(५७)

वहाँ आपको अनायास ही दीन बन्दिजन आए जान;
याचन करने को आवेंगे प्रथित कीर्ति का धर कर ध्यान।
उन्हें द्रव्य देकर कृतार्थ कर, कर देना पूरी अभिलाष,
प्रायः सज्जन सम्पति पाकर हरते हैं दुखियों की त्रास।

(५८)

प्रतिध्वनि पर्वत की सुन कर क्रोध-दर्प से कर मुख लाल;
कीश-यूथ यदि सम्मुख दौड़े दाँत पीस कर शब्द कराल।
वीर-तुल्य तुम उन्हें भगाना कर दारुण ज्या की टङ्कार;
व्यर्थ काम मे यत्नशील हो कौन नही जाता है हार।

(५९)

विबुज-वृन्द-वन्दित सेवित हैं जिनके पाद-पद्म अघहर;
रहते हैं उस अमल अद्रि पर भव-नायक भोला शङ्कर।
जिनके ध्यान-मात्र से सहसा हो जाते हैं दूरित नाश,
शिवगण का स्थिर पद पाने को करते भक्त अटल अभिलाष।

(६०)

नीप-गन्ध से मुग्ध मत्त हो वहाँ गूँजते मधुर मलिन्द;
वेणु क्वणित-सी मृदु तानें ले नाचा करते केकी-वृन्द।
तव पयान से वहाँ बजे यदि श्रवण-सौख्यकर मधुर मृदङ्ग;
तो ताण्डव-रत हर को आवे गायन का पूरा रस रङ्ग।

(६१)

फिर तुम पथ चलते देखोगे इन्द्र-नील-मणि-चय-सा भव्य,
बड़े-बडे शिखरोंवाला वह वेणु नाम का नगवर दिव्य।
बलि-बन्धन में रत वामन के लम्बे मेचक चरण-समान,
नव-जलधर-सा विस्तृत हो जो बना रहा नभ को छविमान।

(६२)

उस शुचि गिरिवर से दक्षिण के सभी ग्राम करने पर पार;
दीख पड़ेंगे निज नगरी के उज्ज्वल मणिमय महल अपार।
जो प्रकोट से ऊँचे उठकर विशद विभा से अम्बर घेर;
सभी ओर से छवि पाते ज्यों भव के अट्टहास का ढेर।

(६३)

कमल कान्तिमय उन हर्म्यों के सित शिखरों पर छा क्षण-भर,
स्निग्ध नील-नव-नीरद कैसे होते हैं शोभित सुन्दर।
हो जाता अवलोकनीय है उनका वह मनहर आकार,
यथा गौर बलराम-स्कंध पर छवि पाता नीला प्रावार।

(६४)

नगर-निकट ही वहाँ बाग में यादव-केलि-शैल पाकर;
गोमति-जल अवलोकन करते रुकना तुम उस पर जाकर।
व्योम-मार्ग में उडा हयों को पहुँच वहाँ श्रम हरने-हेतु,
प्रेम-मग्न हो प्रथम बनाना मणि तट पर चढ़ने का सेतु।

(६५)

वहाँ मुहुर्त-भर बैठ शान्त हो सुनना तुम श्रीहरि-यश-गान,
किन्नरियाँ गाती हैं जिसको श्रवण-सौख्यकर ले मृदु तान।
दधि कम्पित कर, घोर शब्द कर हय टापों से बारम्बार,
फिर उन चञ्चल किन्नरियों को कर देना भयभीत अपार।

(६६)

फिर तुम उस गिरिवर पर जाना जहाँ महकती अर्जुन-गन्ध;
खिली केतकी और जाति पर मधुर गूँजते मत्त मलिन्द।
नृत्य-निरत केकी की कूकें वहाँ विपिन में मन हरतीं,
विविध रूप धर वारिद-माला भूमि-भाग शोभित करतीं।

(६७)

उत्सुक हो हर्षातिरेक से माधवादि यादव सब सभ्य;
उस नगरी से निकल आयेंगे समझ आप आगमन अलभ्य।
जल टपकाते जलधर रखली गृह-शिखरों पर जो इस काल,
जैसे रमणी-शीश सुहाते मुक्ता-मण्डित अलक विशाल।

(६८)

विमल कीर्ति-सम प्रखर प्रभामय शाश्वत जोत्स्ना से अभिराम;
शुभ्र सुधा से विशद वर्ण के गगन-स्पर्शी धाम ललाम।
द्युतिमय रत्न-दीप से सहसा तिमिर-जाल करके निश्शेष;
सभी भाँति वह आप सदृश ही रखते गुण-गौरव सविशेष।

(६९)

दुष्ट दैत्य-कुल-नाश-हेतु श्रीकृष्णचन्द्र के रहकर सङ्ग;
तुमुल समर में शौर्य दिखाकर लेते जो रण का रस रङ्ग।
बड़े-बड़े विख्यात वीरवर वहाँ निरन्तर रहते हैं,
चन्द्रहास-व्रण से शोभित हो सुयश-सिन्धु में बहते हैं।

(७०)

वहाँ नहीं तन को छूता है रक्षक श्रीहरि-भय से रोग;
तथा मृत्यु-भय सुना न जाता रहते हैं सब लोग निरोग।
दानी, धनी, मोद-युत सन्तत काम-केलि-सुख लहते हैं;
मानो जरठ नहीं होते हैं, सदा तरुण ही रहते हैं।

(७१)

कुटज-माल धर कण्ठ-देश में मृग-मद से शोभित कर भाल;
तथा नीप-केतकी-कुसुम से सज्जित कर कुञ्चित कच-जाल।
कर्ण-मध्य धारण कर लेगी विशद जाति के सुरभित फूल,
वहाँ आपके शुभागमन को सुन्दरियाँ गिनकर सुख-मूल।

(७२)

वहाँ आपके शुभ प्रवेश से नर्तकियाँ पा हर्षोल्लास,
मनोमुग्धकारी युवकों का रचकर सुभग ताल पर लास।
नृत्य-कला-कौशल दिखलाकर रसिकों को देंगी आह्लाद,
तुम-जैसे गम्भीर घोष के पुष्कर का कर मधुर निनाद।

(७३)

वहाँ ग्रीष्म में वर वनितायें रहकर नवयुवकों के सङ्ग,
विवश हुई-सी मदन-विह्वला करतीं क्रीड़ा सरस अभङ्ग।
आतप के श्रम से जब तनु पर आते उमड़ बिन्दु प्रस्वेद,
शशि-किरणों से चन्द्रकान्त-मणि टपका जल हरते श्रम-स्वेद।

(७४)

निशा समय क्रीड़ा-भवनों में धूप-धूम से कर विस्तार;
जहाँ जमा देता है पहले अंधकार आतङ्क अपार।
रत्नदीप रखती जब रमणी तब विछिन्न हो किसी प्रकार,
निकल जालियों से जाता है धूम-तुल्य ही धर आकार।

(७५)

शयन-मन्दिरों में जलते हैं वहां रात्रि में द्युतिमय दीप,
लज्जित मुग्धायें झुक चलतीं निज सखियों को देख समीप।
सुखद सुगन्धमयी कुंकुम को भर मुट्ठी में वारम्वार;
प्रेम-अंध हो प्रियतम उन पर फेंका करते हैं निस्सार।

(७६)

वहाँ रसिक हलधरादि यादव लेकर वेश्यायें छविमान,
मधुर मृदङ्ग बजा जो करतीं अमल आपका शुभ-यश-गान।
मधु-ऋतु में सुन करके सहसा कोकिल-कलरव सौख्य-निधान,
बाहर के उद्यान-मध्य जा मोद मनाते कर मधु पान।

(७७)

वहाँ सतत पीते कमलों का मधु रस रुचिर रमणियों सङ्ग;
रखतीं जो मदनातिरेक से अपने सारे अलसित अङ्ग।
साँझ समय जा उच्च छतों पर कीर्तिमान यादव सानन्द;
चारु चन्द्रिका में लेते हैं शरद-शर्वरी का आनन्द।

(७८)

कुंकुम के लेपन से शोभित करती जो आतप में अङ्ग;
तथा तुहिन में धारण करती भाँति-भाँति के वस्त्र सुरङ्ग।
देव-दुर्लभा वे कन्यायें शरद-समय रति-मद हरतीं,
वहाँ गोमती-तट छाया में मणियों से खेला करतीं।

(७९)

वहाँ कृष्ण के सुखद सदन में लगा कल्प-पादप है एक,
मरुत्मान ने जिसे दिया था करते हुए प्रेम-अभिषेक।
विविध विभूषण सुमन-सुवासित, सूक्ष्म व्यजन दे मनोऽनुसार;
करता है जो कामिनियों के कान्त कलेवर का शृङ्गार।

(८०)

वहाँ कुटिल कुन्तला कामिनियों के गीले कुंकुम-पद-चित्र;
चन्द्रकान्त-मणिमय मही पर शोभित होते हुए विचित्र।
शिशिर-प्रकम्पित पतित हुए कच कुच से कान्त कुसुम के हार,
सूर्योदय पर बतलाते हैं विभावरी का गोप्य विहार।

(८१)

निकट जान रक्षक श्रीहरि को हर की निपट त्यागकर शंक,
मदन वहाँ विचरा करता है, हो नितान्त निर्भय निश्शंक।
वङ्क भ्रकुटि के चपल चाप पर चंचल चितवन का रख बाण,
चतुर रमणियाँ मोहित करतीं निर्मोही के निर्मम प्राण।

(८२)

वहाँ आप रथ में बैठ ही यदुपति कृष्णचन्द्र के साथ;
पुर प्रवेश प्राचीन द्वार से करके करना उसे सनाथ।
बाल अशोक जहाँ लेता है तोरण की शोभा का भार,
हस्त-प्राप्य पुष्पों से लदकर झुका दूसरा नव मन्दार।

(८३)

अवलोकन कर उड़ते चामर श्वेत छत्र शोभा का मूल;
वायु-विकम्पित काश-कुसुम गिन अथवा अमल कमल के फूल।
पुरवासी सारे जानेंगे आया सुखद शरद शुभ काल,
और आपके प्रिय दर्शन से होंगे अतिशय मुदित मराल।

(८४)

जावेंगे जब राज मार्ग में वहाँ नन्द–नन्दन तव सङ्ग;
चन्दन–चर्चित पीताम्बर से शोभित होगा उनका अङ्ग।
यहाँ निकट नग के विलोक कर दामिनि-युत जलधर सुविशाल,
दृश्य वहाँ का मुझे यहाँ पर दीख रहा मानों इस काल।

(८५)

ग्राम–ग्राम मे रेवति–पति के किए महोत्सव से सुख मान;
हर्षित हो वे उभय करेंगे राजमार्ग में वहाँ पयान।
एक पिला उच्छिष्ट सुरा को रमता सौ सुन्दरियों–सङ्ग;
तथा दूसरा निज दारा से रखता सच्चा स्नेह अभङ्ग।

(८६)

विस्तृत तोरण की सुखमा–युत सौध–श्रेणी लखकर साह्लाद,
फिर तुम अवलोकोगे अपना चमकीला मणिमय प्रासाद।
देते हैं आह्लाद जहाँ पर जलधर अपना डेरा डाल,
सुहृद तुम्हारा नीलकण्ठ भी वहाँ बैठता सायंकाल।

(८७)

प्रथम तात गुरु भ्रात जनों से नमस्कार कर सादर आप,
फिर करुणाकर सदन मञ्च पर जा हरना उसका सन्ताप।
बिना आपके दीख रहा जो छविमय होकर भी छवि–हीन,
हो जाता दिननाथ विना ज्यों सुन्दर शतदल महा मलीन।

(८८)

यों अनुनय करने पर भी उस नृप–कन्या से रहे विरक्त;
मुक्तिमयी कान्ता से सहसा नेमिनाथजी थे अनुरक्त।
तब समीप ही गिरि पर बैठा वहाँ अश्रु–जल मेघ सशोक,
जुगनू–से चमकते चचला चक्षु खोलकर उन्हें विलोक।

(८९)

नेमिनाथ से बोल उठा यों अहो मित्र! तजकर यह शृङ्ग,
जाओ–जाओ अब अपने घर इस विनीत बाला के सङ्ग।
मुदित करो अपनी आली को कर पूरी इसकी अभिलाष,
रमणी–रचना मे विरञ्चि के कौशल का जो प्रथम विकास।

(६०)

सुभग, तुम्हारे अस्विकार से यह कोमल कन्या हो दीन
'विवश हुई-सी विरहानल मे जलती जाती हो छवि-हीन।
सूख गया है कमल-कलेवर मुख-सरोज है पत्र-विहीन,
उस पद्मिनी-समान हुई है, जिसे तुहिन ने किया मलीन।

(६१)

कोमल कर से आलिङ्गन के सुख की तव आली को चाह,
विना तुम्हारे विपम वह्नि-सी वढ़कर देती दाह अथाह।
आतप की कुमुदिनी-तुल्य मुख इसका स्मित शोभा से हीन,
क्षीण चन्द्र-सम कृश लख तुमको दु.सह दुख पा होता दीन।

(६२)

जनक-हर्म्य मे जव यह निशि मे शय्या पर थी निद्रा-लीन;
सत्वर कहाँ चले है स्वामिन, कहती जाग पड़ी हो दीन।
तव हम वोले, जिसका तनु तूँ नयनों से न देख पाई,
प्रियतम की प्यारी रसिके ! क्या उसकी तुझे याद आई ?

(६३)

दु ख छिपा सखियों के सम्मुख वीणा ले करती थी गान,
पर विस्मृत-सी हो जाती थी सहसा करके उसका ध्यान।
प्रथम निकाली गई मींड जो दोहरा करके वारम्वार;
लज्जित-सी हो रह जाती थी आकुल-व्याकुल किसी प्रकार।

(६४)

वहाँ तुम्हारी प्राप्ति-हेतु यह सभी ओर से चित्त समेट,
सुरभित सुमन सदा करती थी श्रीसौभाग्यदेवि को भेंट।
दैवज्ञों में गूढ़ प्रश्न कर करती थी वातें सविनोद,
वहुधा विरह-काल मे होता वनिताओं का यही विनोद।

(६५)

परिणय-समय इसे तजकर तुम चले गये जव गिरी ऊपर;
विरहाकुल होकर तव इसने माला झट पटकी भू पर।
तत्क्षण निज कर से फिर इसने वाँधी थी जो वेणी एक,
विपम गाल पर पड़ी हुई को सरकाती है वार अनेक।

(९६)

विना तुम्हारे दु:खित-सी यह सभी भाँति से हुई निराश,
निन्द्राहत हो पड़ी भूमि पर लेती थी निशि में निश्श्वास।
तब पुराण गीता का वर्णित कहकर विविध ज्ञान-उपदेश,
वातायन पर बैठी सखियाँ हर न सकी थीं इसका क्लेश।

(९७)

कौतूहल-वर्धक बातों से या नव-गीतों से उस काल,
सदा शर्वरी रही बिताती यह मृदु तकियों पर धर गाल।
अथवा कोमल शय्या पर सो जिसे बिछाई तृण-सम जान,
अश्रु बहा उस विभावरी को मान रही शत वर्ष-समान।

(९८)

मोह-मग्न जग को विलोक यह रूप तुम्हारा करके याद,
तत्क्षण ध्यान तुम्हारा धरकर मानस-मन्दिर में सविषाद।
पुन निरखती वहाँ भीत पर चित्र तुम्हारा अति सुकुमार;
पर असफल-सी रह जाती थी अविरल बहा अश्रु की धार।

(९९)

मनसिज-शर से खिन्न-चित्त यह करती कभी नयन निज बंद,
कभी खोल दृग देखा करती क्षितिज छोर को हो निष्पन्द।
नवल मृदुल पल्लव शय्या पर पड़ी-पड़ी दुखित होती,
साभ्र दिवस में ज्यों सरोजिनी नहीं जागती या सोती।

(१००)

फिर निज जननी के कहने पर जान गई जब सारा हाल,
निशि में उसी दशा में कंचुकी मेरे संग भेजा तत्काल।
जैसा मैं कह रहा बंधुवर, वह सब सत्य-सत्य है बात
उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखकर सत्वर तुमको होगा ज्ञात।

(१०१)

वहाँ तुम्हारी मृगनयनी की शोचनीय स्थिति को अवलोक;
प्रात सखी ने इसकी माँ से वर्णन की सब दशा सशोक।
तनया का दुख सुनकर उसके वह निकला नयनों से नीर,
आर्द्र-हृदय यों दुःख श्रवण कर हो जाता है अधिक अधीर।

(१०२)

इसे बुलाकर यो बोली वह निर्दय ने तुझको छोड़ा;
भद्रे ! दुःख उठा यहाँ उसने क्यों सुख से है मुख मोड़ा।
लोल लाल तव युगल विलोचन अश्रु गिराते दिखलाते;
सफरी की किलोल से कम्पित अरुणाम्बुज-सी छवि पाते।

(१०३)

तेरे युगल मृदुल भुज सुन्दर हैं अन्तर के तप से चीण;
मृदु मृणाल-जैसे ज्योत्स्ना में हो जाते हैं शोभा-हीन।
सुन्दर रसमय कदलि-स्थंभ-सा तथा दूसरा उरु उज्ज्वल;
विरहानल के उष्ण अनिल से झुलसाकर होता चंचल।

(१०४)

वत्से ! स्वच्छ सदा रह अब तू अपने मन से शोक बिसार;
सावधान हो सम्भाषण कर मुझ दुखिया पर दया विचार।
होना होता तो हो जाता तव परिणय उससे उस काल;
पर अब कठिन कण्ठ में उसके पड़ना तेरे बाहु-मृणाल।

(१०५)

गोदी मे रख मृदु वचनों से माँ के समझाने पर भी,
यह कृश होती गई न त्यागा वह मानस-दुख क्षण-भर भी।
कोमलांगि अब तनु न त्याग दे, इससे तुम जाकर हे धीर;
सत्वर मान रखो मानिनी का विनत वचन कहकर गम्भीर।

(१०६)

जननी की शत शिक्षाओ की अवहेला कर, करके शोक;
लटें खोलती सखियों के कर अपने पाणि-पद्म से रोक।
गद्गद हो अस्पष्ट स्वरों में सम्भाषण करके सविषाद.
पहुँचाया इसने उन सबके अंतस्तल में विषम विषाद।

(१०७)

सुभग तुम्हारे समाचार हित इसने कहकर सारा हाल,
पहले वृद्ध विप्र भेजा था रैवतगिरिवर पर उस काल।
तुम्हें कुशल सुन उसके द्वारा हुआ इसे क्षण-भर सन्तोष,
समाचार प्रिय का देता है मिलने से कुछ ही कम तोष।

(१०८)

विना तुम्हारे दुःखित-सी यह जनक-सदन मे रहकर म्लान;
बड़े कष्ट से काट रही थी प्रति वासर को वर्ष-समान।
किन्तु कुशल सुनते ही तुमको इसके उन संकल्पों संग;
वाम भाग्य के होने पर भी चपल चित्त मे उठी उमंग।

(१०९)

फिर पितु-अनुशासन पाकर यह गिरि पर यहाँ हमारे साथ,
प्राणनाथ के चरण-शरण मे होने आई आज सनाथ।
निर्दय मार विषम विशिखों से छेद रहा इसका हृद्धाम,
अभय दान दे इसे बचाओ पहला यही तुम्हारा काम।

(११०)

"यदि तुम हो धर्मज्ञ, मुझे तो इस प्रकार क्यो करते त्यक्त,
मैं दुखिनी सहचरी तुम्हारी एक चित्तवाली अनुरक्त।"
उत्कंठा से पद्य बनाकर कहलाती मेरे मुख से,
मुझ पर कृपा करो हे यदुपति, इसको स्वीकारो सुख से।

(१११)

गिरि दुर्लंघ्य चचल अचला दधि गम्भीर अनल द्युतिमान,
रूप रमायुत मकरध्वज को लख करके लावण्य-निधान।
नरवर! इसकी शील-बुद्धि लख कहता हूँ मैं सत्य सही,
इसके सर्व गुणों की समता एक जगह है कहीं नहीं।

(११२)

इसे त्यागकर इधर शैल पर आ जब तुमने लिया विराग,
उधर गगन में घुमड़ घनों ने किया विश्व को सरस सराग।
दिनकर को ढँककर फैलाया मनसिज का मायामय जाल,
इसे कल्प-सा ज्ञात हुआ तब दुखदायक यह पावस काल।

(११३)

किसी भाँति जब अर्धरात्रि मे निद्रा नयनों मे भरती,
तुम्हें स्वप्न में देख उपस्थित कहने की इच्छा करती।
मानो तब होने को जाते मेरे पूर्व पाप कुछ शान्त,
किन्तु हमारा स्वप्न-मिलन भी देख न सकता क्रूर कृतान्त।

(११४)

कर न सका वह रूप रमा से नाथ तुम्हारे तप को भङ्ग;
उसी वैर-वश मुझ अबला पर छोड़ रहा शर क्रुद्ध अनङ्ग।
इससे रजनी में तरुओं के कोमल किसलय-आसन पर,
मम विलोचनों से गिरते हैं मोती से आँसू सुन्दर।

(११५)

बरसाया नीरदमाला ने इस नग के नीपों पर नीर,
यादवेन्द्र उसको चुपके से चोर चोर कर धीर समीर।
शीतल होकर बना हुआ है मन्मथ के खर विशिख-समान,
पर उससे मैं भेंट रही हूँ लगा आपके तनु से जान।

(११६)

इसे सोचकर करुणा करके हो प्रसन्न मुझ पर हे कान्त,
सुधा-तुल्य तव अंग-सग से कर दो मेरे तनु को शान्त।
तव वियोग के विषमातप से तपकर हो लावण्य-विहीन;
केवल प्राण धारता है जो आश्रयहत-सा दीन-मलीन।

(११७)

अवधि-रहित तव विषम विरह से जिस तनु ने भोगा दुख भोग;
यही अङ्ग अब चिर सुख भोगे पा करके तनु-शुभ-संयोग।
विगत जन्म के कर्म-विटप का फल पाता प्राणी इस काल;
नीची-ऊँची दशा घूमती जैसे चक्रनेमि की चाल।

(११८)

बढ़ा-चढ़ाकर राग अत्यधिक होकर मिलनातुर अत्यन्त,
किसी तरह से दुखद दशा सम किया यहाँ प्रावृट का अंत।
प्रियतम अब अपने घर चलकर कर इच्छित आमोद-प्रमोद,
शरद-निशा की सित ज्योत्स्ना मे करें सौख्यप्रद विविध विनोद।

(११९)

सफल वाक्य यह इसका कर दो इसे सङ्ग ले जा आवास;
करो प्रसन्न इसे फिर सत्वर करके नित नव-नव सुविलास।
पहले रजनी में शय्या पर यह मोहान्ध हुई बोली,
रमा अन्य से तुझे स्वप्न मे देखा मैंने अरे छली।

(१२०)

तुमसे मिलने को व्याकुल हो नृप-कन्या यह वार'वार
गद्गद होकर गमन-हेतु तव त्वरा कर रही किसी प्रकार।
कभी नहीं होता प्रणयी के मन से प्रणय-भाव का ह्रास
प्राय विरह-काम मे होता सरस स्नेह का अधिक विकास।

(१२१)

दु सह स्मर-शर से जर्जर इस कन्या पर करुणा लाओ,
यदुपति मोदमयी वातें कर सत्वर निज गृह ले जाओ।
मृदु वचनों से आश्वासन दे स्नेह-सलिल को सरसाओ,
प्राय कुन्द-कुसुम-सा कोमल इसका जीवन विकसाओ।

(१२२)

जगतीतल पर महज्जनों के लक्षण हैं जब यह विख्यात,
अधिक और तव मैं इसके हित विनय करूँ क्यों तुमसे नाथ।
बड़े स्नेह-वश नहीं वोलते याचक इसे जानते हैं;
प्रार्थी की अभिलाष-पूर्ति ही उत्तर श्रेष्ठ मानते है।

(१२३)

सत्वर निज पुर जा त्रिलोक का अतुल राज्य पा भले प्रकार,
सुखी करो गुरुजन-परिजन को विमल कीर्ति का कर विस्तार।
वर्षा में घन से चपला का रहता ज्यों सन्तत संयोग,
उसी तरह ही कभी आपसे राजमती का हो न वियोग।

(११४)

वह विरक्त अपनी आली पर अनुनय सुन करुणा लाया,
उस अनुगता 'सती वाला को मर्म धर्म का समझाया।
मुक्ति-प्राप्ति-हित उसे योग दे रक्खा अविरत अपने साथ,
साधु जनों से सदा प्रार्थि को उत्तम फल आता है हाथ।

(१२५)

शैल-शिखर पर नेमिनाथ को मिला योग से केवल ज्ञान,
सुर-नर-नाग मुदित हो उनका करने लगे सरस स्तव गान।
श्रीकाशी में राजमती से छुड़वाकर नश्वर भव-भोग,
करा दिया उसका अविनाशी सुख से सन्तत शुभ संयोग।

(१२६)

कवि-कुल-भूपण कालिदास के मेघदूत का अन्तिम पाद,
कौशल से ले राजमती के दुख को दरसाया सविपाद।
साङ्गण-सुत विक्रम ने श्रीमन्नेमिचरित चित्रण करने,
सुन्दर काव्य बनाया है यह मनीपियों का मन हरने।

—o—

अनुवादक-प्रशस्तिः

(१२७)
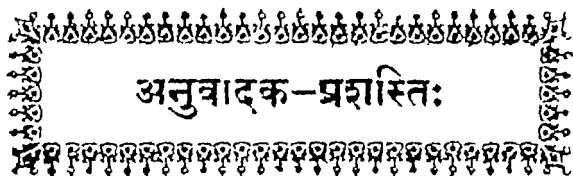
मेदपाट भू के अन्तर्गत दुर्ग एक अत्यन्त ललाम,
चर्मण्वती नदी-तट गिरि पर भैंसरोड़गढ़ जिसका नाम।
किया यहाँ पर 'हिम्मत' ने यह संस्कृत से भापा अनुवाद;
काव्य-रसिक पढ़ करके इसको लेवें काव्य-कला का स्वाद।

प्रतीक्षा कीजिए

प्रश्नव्याकरणसूत्रम्

संपादक

(श्री मुनि विनयसागरजी संस्कृत साहित्यरत्न
श्री फतहसिंहजी एम. ए. बी. टी. डी. लिट.)

यह ग्रन्थ जैनागमो में दशम अंग है। मूल प्राकृत, संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद और विस्तृत प्रस्तावना आदि सहित लगभग ५०० पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य केवल ७), साधु-महात्माओं विद्वानों और जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी।

प्रकाशक

श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय

कोटा [राजस्थान]